❀ ओ३म् ❀

महर्षि वेदभाष्यविबोध

(यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के महर्षि दयानन्दकृत भाष्य की व्याख्या)

लेखक :— सुदर्शनदेव आचार्य एम० ए०

प्रकाशक :—

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २, एफ कमलानगर, दिल्ली-७

वार ... ० प्रति | दयानन्दाब्द संवत् २०२५ वि० | अजिल्द मूल्य १)

वेद है कल्याणी वाणी सर्वज्ञ भगवान् की ।
जिसके अर्थ ज्ञान में है पहुँच अनूचान की ।।१
करके उसका साक्षात् ऋषि दयानन्द ने ।
सत्य का प्रकाश किया पड़े थे सब अन्ध में ।।२
विश्व भर को आर्य करना वेद का आदेश है ।
पढ़ो वेद जानो ब्रह्म 'दयानन्द संदेश' है ।।३

सम्मति

ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य के ४० वें अध्याय पर आर्य समाज के युवक प्रौढ विद्वान् पं० सुदर्शनदेव जी आचार्य एम० ए० ने महर्षि वेदभाष्य विबोध लिखा है इसमें ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य की सर्वाङ्गपूर्ण अनेक बातों पर उत्तम प्रकाश डाला है। प्रत्येक मन्त्र के भाष्य की संगति अच्छे ढगं से की है। विबोध में ऋषि के पदार्थ, अन्वय और भावार्थ को ही एक भी अक्षर बदले बिना आधार रूप में रखकर भावार्थ की सुयोजना की गई है। मैंने इस विबोध को आद्योपान्त पढ़ा है। मैं समझता हूँ कि ऋषि दयानन्द के भावों को अच्छे प्रकार खोला गया है। इस ग्रन्थ में वेदभाष्य करने वालों के और पढ़ने वालों के लिये अनेक उपयोगी प्रकरण लिखे हैं। पुस्तक सर्वदा उपादेय है। मान्य विद्वान् और केवल आर्य भाषा जानने वाले स्वाध्यायशील महानुभाव दोनों एक समान इससे लाभ उठा सकते हैं। लेखक को
देता हूँ।

पुस्तक के प्रकाशक श्री दीपचन्द जी आर्य प्रधान आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट हैं। यह ट्रस्ट महर्षि कृत ग्रन्थों के प्रचार के लिये बना हुआ है। ट्रस्ट ने इसका भी प्रकाशन करके आर्य समाज के साहित्य में एक उत्तम देन दी है। मैं इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक

जगदेवसिंह सिद्धान्ती, शास्त्री दिल्ली

भूमिका

वेद महिमा

संसार में प्रत्येक प्राणी दुःख से छूटकर सुख को प्राप्त करना चाहता है। अल्पज्ञ मानव क्षणिक सुख की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न नित्यप्रति करता रहता है। परम आनन्द की प्राप्ति के उपाय से अनभिज्ञ होने के कारण जीवन भर इधर उधर भटकता रहता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज सत्यार्थप्रकाश नवम् समुल्लास में लिखते हैं—"पवित्र कर्म पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषण आदि कर्म, पाषाण मूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है"।

यहाँ महर्षि ने यह बतलाया है कि पवित्र ज्ञान मुक्ति अर्थात् परम आनन्द प्राप्ति का उपाय है। पवित्र ज्ञान ही पवित्र कर्म और पवित्र उपासना का आधार है। संसार में सबसे पवित्र ज्ञान वेद है क्योंकि यह पवित्र परमात्मा की देन है। इसमें प्रमाण—"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (यजु० ४०। ८)। अर्थात्—स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर प्रजा के कल्याण के लिये वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।

इसके अतिरिक्त वेद ईश्वर का पवित्र ज्ञान है इसमें महर्षि ने यह युक्तियां दी हैं।

(क) "जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध गुण कर्म स्वभाव, न्यायकारी, दयालु, आदि गुण वाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत अन्य नहीं।"

(ख) "और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त······इस प्रकार के वेद हैं।"

(ग) "जैसे माता पिता अपने सन्तानों पर कृपा दृष्टि कर उन्नति चाहते हैं वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है। जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार, भ्रमजाल से छूटकर विद्या विज्ञान रूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें अतः प्रभु की इस महती दयालुता का लाभ प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण प्रयत्न के साथ अवश्य ही उठाना चाहिये। इस कार्य को अपने जीवन में परम आवश्यक समझना चाहिये। इसीलिये महर्षि ने आर्यसमाज के तीसरे नियम में लिखा कि "वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

(घ) गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्त अनुदात्त आदिस्वर के ज्ञान पूर्वक गायत्र्यादि छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के बिना किसी का सामर्थ्य नहीं कि इस प्रकार का सर्वज्ञान युक्त शास्त्र बना सके।

(ङ) वेदों को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त, छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं।

(च) ब्राह्मण, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, उपवेद आदि सब वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। अतः मूल वेद हैं। अन्य सब उसी का फल हैं। अतः वेद स्वतः प्रमाण हैं अन्य सब परतः प्रमाण हैं।

(छ) जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे तो कोई भी कुछ भी न बना सके। इसलिये वेद परमेश्वरोक्त हैं।

सभी प्राचीन ऋषि महर्षि विद्वान् वेदों के सामने नतमस्तक हैं। वेदों के सम्बन्ध में उनकी सम्मति निम्न प्रकार है—

मनुस्मृति में वेद की महिमा इन्हीं शब्दों में गाई गई है—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्य यथाकालमतन्द्रितः।

अर्थात् प्रत्येक आर्य का यह कर्त्तव्य है कि वह आलस्य को छोड़कर नियम पूर्वक निश्चित समय पर नित्यप्रति वेद का स्वाध्याय किया करे। यही आर्यों का परम धर्म है। इसके विपरीत जो आर्य वेद का अध्ययन नहीं करते उनकी मनु ने घोर निन्दा की है। वे लिखते हैं—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ मनु० २। १६८।

अर्थात् जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्य अनार्ष ग्रन्थों में पुरुषार्थ करता है वह जीता हुआ ही शूद्र बन जाता है। इस प्रकार सभी शास्त्रों में वेदाध्ययन की महिमा गाई गई है।

"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (वैशेषिक० ६।१।१)

अर्थात् वेद में सम्पूर्ण रचना बुद्धिपूर्वक है।

महर्षि कणाद लिखते हैं—"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" (वैशेषिक १ १ ३)। अर्थात् वेद ईश्वरोक्त हैं। इनमें सब सत्य विद्या और पक्षपात रहित धर्म का ही प्रतिपादन है। अतः मैं वेदों को प्रमाण मानता हूं

महर्षि गोतम लिखते हैं—"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्" (न्याय० २।१।६७)। इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने लिखा है—"सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य और प्रामाणिक मानते आये हैं। वे आप्त प्रामाणिक हैं क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा, कपट छल आदि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख के लिये सत्य का उपदेश करने वाले हैं। जिसमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता। उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया

है," (ऋग्वेदादि० वेदनित्य०)। महर्षि गोतम ने न्याय दर्शन के द्वितीय अध्याय में इस तथ्य को सिद्ध किया है कि वेद अनृतव्याघात पुनरुक्त दोषों से रहित हैं।

महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (योग० १।२६)। इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"जो प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुये थे उन से लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं, इन सब का गुरु परमेश्वर ही है। वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है .... ।

जिस प्रभु में अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के द्वारा रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये" (ऋग्वेदादि० वेदनित्य०)॥

महर्षि कपिल लिखते हैं—"निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्" (सांख्य ५।५१)। अर्थात् परमात्मा की ज्ञानशक्ति वा विद्याशक्ति से वेद प्रकट हुये हैं अतः वेद स्वतः प्रमाण हैं।

श्री कृष्णद्वैपायन व्यास मुनि लिखते हैं—"शास्त्र योनित्वात्" (वेदान्त० १।१.३) इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, प्रदीप के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले हैं। उनका बनाने वाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञ गुण युक्त इन वेदों को बना सके ऐसा सम्भव कदापि नहीं हो सकता। किन्तु वेदार्थ विस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से, अन्य शास्त्र बनाने का सम्भव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है। उनमें विद्या के एक २ देश का प्रकाश किया है। वे भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं। और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं उनको सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है। किन्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है। अन्यथा नहीं।" (ऋग्वेदादि० वेदनित्य०)॥

वेद स्वतः प्रमाण हैं—

ऋषि महर्षि आप्त विद्वानों द्वारा बनाये सब शास्त्र परतः प्रमाण हैं। केवल चारों वेद ही स्वतः प्रमाण हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती इस विषय में लिखते हैं—"वेद ईश्वर के रचे हुये हैं और ईश्वर सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्ति वाला है। इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और स्वतः प्रमाण के योग्य है और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं होते क्योंकि वे सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् के रचे हुये नहीं। इसलिये उनका कहना स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता। ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेद विषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहां सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रिया वाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही वेद भी अपने

प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो २ ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण या स्वीकार करने योग्य नहीं होते। यदि वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो तो तब भी वेद अप्रमाण के योग्य नहीं हो सकते क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाण युक्त हैं।" (ऋग्वेदादि० ग्रन्थप्रामाण्य०)

वेदाध्ययन का अधिकार--

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु ॥ यजु० २६।२ ॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—"वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उनके पढ़ाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूँ उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो। क्योंकि यह चारों वेद रूपी वाणी सबका कल्याण करने वाली है। तथा जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूँ वैसे ही सदा तुम भी किया करो। ....वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण वर्ण के लिये है वैसा ही क्षत्रिय, वैश्य पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र अन्त्यज के लिये भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वर प्रकाशित हैं। जो यह विद्या पुस्तक है वह सबका हितकारक है और ईश्वर रचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं, क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिये है। किसी वर्ण विशेष के लिये नहीं। ....। जैसे मुझमें अनन्त विद्या से सब सुख हैं वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा उसको भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा। इस लिये तुम्हें भी वेद विद्या सब के लिये समान रूप से प्रकाशित करनी चाहिये, इसमें कोई भेदभाव नहीं रखना चाहिये।" (ऋग्वेदादि० अधिकारानधिकार०) ॥

वेदभाष्य करने का अधिकार

आज यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है कि क्या वेदभाष्य एवं मन्त्रों के अर्थ करने का सबको अधिकार है? इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने निरुक्तकार महर्षि यास्क के वचनों के आधार पर विद्वानों के लिये बहुत ही सुन्दर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। महर्षि यास्क के वचन हैं—"अयं मन्त्रार्थाभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपितर्कतो, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या, न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसोवा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्ये भवति ·· ····· ·········। तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति" (नि० १३। १२) ॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस उल्लिखित महर्षि यास्क वचन की व्याख्या इस प्रकार की है—

"नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः। किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापर सम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः। किं च नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तः करणस्या विदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति। न यावद्वा पारोवर्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति, न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति....................। यः कश्चिदनूचानो, विद्यापारगः, पुरुषोऽभ्यूहति वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्। किं च यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना, पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति। नैतत्केनाप्यादर्तव्यमिति।......। तस्यानर्थयुक्तत्वात्। तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति"

इन मन्त्रों का अर्थ केवल श्रवण मात्र से अथवा शुष्कतर्क से उन्हें अपने प्रकरण से पृथक् करके नहीं किया जा सकता, किन्तु उन मन्त्रों का पूर्वापर सम्बन्ध देखकर प्रकरणानुकूल ही अर्थ करना चाहिये। इन मन्त्रों के अर्थ का प्रत्यक्ष वे लोग कभी नहीं कर सकते जो ऋषि नहीं और तपस्वी नहीं अर्थात् जिनका अन्तःकरण अशुद्ध है तथा जो अविद्वान् है। ....। वेदार्थज्ञ मनुष्यों में भी अधिक विद्यावान् मनुष्य ही प्रशस्त होता है और वही वेदाविरोधी सुतर्क के द्वारा ही मन्त्रों का उपयुक्त अर्थ कर सकता है।...............। यदि कोई पूर्ण विद्वान् पुरुष वेदार्थ का प्रकाश करता है तो वही ऋषि प्रोक्त व्याख्यान समझना चाहिये। और जो अल्प बुद्धि पुरुष करता है वह अनार्ष होता है। उसका किसी को आदर नहीं करना चाहिये।...... ... क्योंकि वह अनर्थ युक्त है। उसका आदर करने से मनुष्यों की भी अनर्थापत्ति होगी।" (ऋग्वेदादि० वेदविषय०)॥

इस महर्षि दयानन्द के लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि वेदभाष्य करने का अधिकार तपस्वी, शुद्ध अन्तःकरण वाले, विद्या से परिपूर्ण साक्षाद् द्रष्टा महर्षियों × को ही है।

× ऋग्वेद १।१।२ के भावार्थ में ऋषि दयानन्द "ऋषि" शब्द के अर्थ में लिखते हैं—

"ये मन्त्रार्थान् विदितवन्तो धर्मविद्ययोः प्रचारस्यैवानुष्ठातारः सत्योपदेशेन सर्वाननुग्रहीतारो निश्छलाः पुरुषार्थिनो मोक्षधर्मसिध्यर्थमीश्वरस्यैवोपासकाः कामार्थसिद्ध्यर्थं भौतिकाग्ने गुणज्ञानेन कार्यसिद्धिं सम्पादयन्तो मनुष्यास्ते ऋषिशब्देन गृह्यन्ते।"

भाषा में उपयुक्त भाव का अर्थ इस प्रकार लिखते हैं—

"वे सब पूर्ण विद्वान् शुभ गुण सहित होने पर ऋषि कहाते हैं, क्योंकि जो मन्त्रों के अर्थों को जाने हुये धर्म और विद्या के प्रचार, अपने सत्य उपदेश से सब पर कृपा करने वाले निष्कपट पुरुषार्थी मोक्ष धर्म के सिद्ध होने के लिये ईश्वर की उपासना करने वाले होते हैं।"

२—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (प्रश्नोत्तर विषयः)—"(प्रश्नः) वाचोवाण्याः किं फलं भवतीत्यत्राह॥ (उत्तरम्) विज्ञानं तया तज्ज्ञानुसारेणकर्मानुष्ठानम्। य एवं

तपस्या से रहित, मलिन अन्तःकरण वाले, अल्प विद्या वाले पक्षपाती मनुष्य वेदभाष्य करने का अधिकार नहीं रखते। उनके किये वेदभाष्य दोष रहित न रहने से जनता के लिये अनर्थ का कारण बनते हैं। अतः महर्षि ने स्पष्ट लिख दिया है कि ऐसे मनुष्यकृत वेदभाष्यों का कदापि आदर नहीं करना चाहिये। ऋषियों के किये वेद व्याख्यान सब प्रकार के दोषों से रहित हैं। अतः आर्षवेदभाष्यों का ही सब को अध्ययन एवं सत्कार करना योग्य है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास में भी इस बात पर पूर्ण प्रकाश डाला है कि ऋषि महर्षि लोगों को वेदार्थ का ज्ञान किस प्रकार हुआ। महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"(प्रश्न) वेद संस्कृत में प्रकाशित हुये और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृत भाषा को नहीं जानते थे फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना ?

(उत्तर) परमेश्वर ने जनाया। और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब २ जिस २ के अर्थ की जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुये तब २ परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये।"

महर्षि दयानन्द के इस लेख से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि वेदभाष्य एवं वेद मन्त्रों का अर्थ करने का अधिकार उन्हीं को है जिन्हें परमात्मा का साक्षात्कार हो एवं जो धर्मात्मा योगी महर्षि हों। जो समाधि में स्थित होकर परमात्मा से वेदों के अर्थों को जान सकें।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज की भी यह जीवन-घटना प्रसिद्ध है कि जब महाराज जी पण्डितों को वेद भाष्य लिखाया करते थे जब कभी २ उन्हें मन्त्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता था तब महर्षि एकान्त में जा, समाधिस्थ होकर अभीष्ट मन्त्र का अर्थ अपने आचार्य परमात्मा से समझ आते थे और पण्डितों को लिखवाया करते थे। महर्षि दयानन्द को परमात्मा का साक्षात्कार था। यह बात उनके जीवन तथा उनके अद्भुत लेखों से सिद्ध है। सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ और अन्त में ब्रह्म का प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। महर्षि विद्या में पारङ्गत आचार के आदर्श एवं परमतपस्वी धर्मात्मा योगी थे। परमात्मा के साक्षात्कार से युक्त ऋषि थे। ऐसा ही पवित्र महान् आत्मा वेद का सच्चा भाष्य कर सकता है।

वेदार्थ ज्ञान के लिये महर्षि ने निम्न विचार प्रकट किये हैं—

"मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थ योजना सहित "व्याकरण—अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ, और महाभाष्य" शिक्षा, कल्प, निघण्टुनिरुक्त,

---

ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति ॥" भाषार्थ—(प्रश्न) वाणी का फल क्या है ? (उत्तर) अर्थ को ठीक ठीक जानके उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है। और जो लोग इस नियम पर चलते हैं वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं।" (जगदेव सिद्धान्ती)

छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग, मीमांसा, वैशेषिक न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक २ जाना जाता है, तथा "ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण," इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के अथवा, जिन्होंने इन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उनको देखके वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें"।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पठन-पाठन विषय वेदार्थ ज्ञान के लिये उपरोक्त सम्पूर्ण पुस्तकों का ज्ञान आवश्यक है। साधारण व्याकरणादि के ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति की अपनी कल्पना से की गई वेद व्याख्या आदर के योग्य नहीं समझनी चाहिये। यह बात ऋषि के वचन से सुस्पष्ट है अतः श्रोता या विद्वान् जिसको भी इन ग्रन्थों का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है वह इन ग्रन्थों के आधार पर की गई वेद व्याख्या को ही पढ़े, पढ़ावे और सुने सुनावे।

महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन महर्षियों के किये वेद-व्याख्यानों का बड़ा ही सम्मान किया है। और उन्हीं के अनुकूल अपने वेदभाष्य की रचना की है। उन्होंने अपने वेदभाष्य सम्बन्धी विषय को प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(प्रश्न) क्यों जी तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो वह पूर्वाचार्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नवीन ? यदि पूर्व रचित भाष्यों के समान है तब तो व्यर्थ है क्यों-कि वे तो पहले ही से बने बनाये हैं। और जो नया बनाते हो तो उसको कोई भी न मानेगा क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपनी ही कल्पना से बनाना है यह बात कब ठीक हो सकती है ?

(उत्तर) यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्य के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है वह तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ, ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार है। क्योंकि जो २ वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इसमें अपूर्वता है। क्योंकि जो २ प्रामाण्याप्रामण्य विषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिना आये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाण से युक्त यह भाष्य बनाया जाता है।

और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती। और जो २ भाष्य उवट, सायण, महीधर आदि ने बनाये हैं वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो २ इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेद-व्याख्यान बने हैं वे भी अशुद्ध हैं।" (ऋग्वेदादि० भाष्यकरणशंका०)।

मेरा भाष्य उन ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों से युक्त होगा, जिनमें ऋषि, मुनि, महर्षि, महामुनि, आर्यों ने वेद का सत्यार्थ परमात्मा की कृपा से लिखा है क्योंकि बिना सत्यार्थ प्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृति कभी नहीं हो सकती। (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका प्रतिज्ञा विषय)

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषतायें

महर्षि के वेदभाष्य का क्रम

मन्त्रार्थ भूमिकाह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च
पदार्थान्विय भावार्था: क्रमाद् बोध्या विचक्षणै: ।।

इस मन्त्र भाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है वह, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्ध पूर्वक योजना और छटा भावार्थ अर्थात मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है, इस क्रम से मन्त्र भाष्य बनाया जाता है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ग्रन्थ संकेता:

१–विषयनिर्देश

महर्षि ने अपने वेदभाष्य में यह शैली स्वीकार की है कि सर्वप्रथम मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द और स्वर का निर्देश किया गया है। इनका निर्देश मूल संहिताओं में भी उपलब्ध है। इस प्राचीन परम्परा को महर्षि ने वेदभाष्य में भी सुरक्षित रखा है। इसके पश्चात् सर्वत्र मन्त्रों के ऊपर अपनी दिव्य दृष्टि से महर्षि ने मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख किया है। जिससे पाठक को सरलतया यह विदित हो जाये कि इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय क्या है। विषय का प्रथम ज्ञान हो जाने पर मन्त्रार्थ के समझने में बड़ी सहायता मिलती है। विषय निर्देश के पश्चात् सस्वर मन्त्रपाठ दिया गया है।

२–पदपाठ

जिस प्रकार मन्त्रों पर अङ्कित उदात्तादि स्वर वेदार्थ के नियामक एवं मन्त्र के अर्थज्ञान में अत्यन्त सहायक हैं इसी प्रकार पदपाठ का भी वेदार्थ के ज्ञान में अपना विशेष महत्त्व है। संहितापाठ से पदपाठ की रचना करना प्रत्येक विद्वान् के वश की बात नहीं है। क्योंकि पदपाठ के लिये मन्त्रार्थ का ज्ञान अपेक्षित है तथा मन्त्रार्थ जानने के लिये मन्त्र के पृथक् २ पदों का परिज्ञान आवश्यक है। अत: महर्षि ने सस्वर मन्त्र पाठ के पश्चात् उस मन्त्र का सस्वर पदपाठ भी दिया है।

३–पदार्थ

पद-पाठ के पश्चात् ऋषि ने मन्त्र में विद्यमान क्रम से पदों का अर्थ लिखा है। यह पदार्थ ही महर्षि के वेदभाष्य का आत्मा समझना चाहिये। महर्षि अपने अगाध,

निर्मल ज्ञान एवं समाधिज परमात्मसाक्षात्कार के आधार पर वेद के पदों का ऐसा अद्भुत अर्थ कर जाते हैं कि विद्वान् देखते ही रह जाते हैं कि अमुक पद का अमुक अर्थ किस प्रकार से हो गया। बड़ी गम्भीरता से विचार करने पर महर्षि द्वारा किया अर्थ समझ में आता है। इस प्रकार ऋषि का अद्भुत ज्ञान विद्वानों को नतमस्तक कर देता है।

महर्षि ने वैदिक पदों के अर्थ की सिद्धि में अष्टाध्यायी, महाभाष्य, उणादिकोष निघण्टु, निरुक्त, ब्राह्मणग्रन्थ आदि के स्थान २ पर प्रमाण दिये हैं। प्रमाणों के आधार पर एक पद के अनेक अर्थ भी दर्शाये हैं।

४—अन्वय

पदार्थ के पश्चात् महर्षि ने मन्त्र का अन्वय दर्शाया है जो मन्त्र के अर्थज्ञान में परम सहायक है। जैसे कि सामान्य लौकिक पद्य के भी ठीक-ठीक अर्थ जानने के लिये अन्वय अपेक्षित है इसी प्रकार मन्त्र अन्वय के ज्ञान के बिना मन्त्रार्थ का परिज्ञान सम्भव नहीं। मन्त्र का अन्वय दर्शाते हुये महर्षि की यह विशेष शैली रही है कि उन्होंने मन्त्र का केवल अन्वय-मात्र ही नहीं किया अपितु अन्वय के साथ-साथ आवश्यकता के अनुसार पदों के अर्थों को भी खोल दिया है। इसके अतिरिक्त अर्थ की संगति के लिये अन्वय में पदों का अध्याहार भी कर लिया है। इससे मन्त्र का अर्थ और अधिक स्फुट हो गया है।

५-भावार्थ

मन्त्र के अन्वय-निर्देश के पश्चात् महर्षि ने मन्त्र के अन्दर निहित भावों को भावार्थ के नाम से प्रकाशित किया है। साधारणतया जब हम ऋषि के भाष्य में भावार्थ को पढ़ते हैं तब कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि मूल मन्त्र की ओर ध्यान न देते हुए अपना मनोवाञ्छित भावार्थ लिख रहे हैं। किन्तु गम्भीरता से मनन करने के पश्चात् यह धारणा मिथ्या सिद्ध होती है. और यह तथ्य समझ में आता है कि भावार्थ में प्रकाशित अर्थ महर्षि ने मूल मन्त्र में से ही ग्रहण किये हैं। इस यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के भाष्य विबोध में हमने महर्षि के भावार्थ पर मन्त्र का वह अंश अंकित कर दिया है जिससे महर्षि ने वह वह भावार्थ जहां से ग्रहण किया है। पाठक भाष्य विबोध में इसका प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

६—अध्याय का सार

महर्षि अध्याय के अन्त में सार रूप में अध्याय में आये विषयों का वर्णन करते हैं। साधारण दृष्टि से देखने पर महर्षि का सार रूप में यह विषय-वर्णन मन्त्रों में दृष्टिगोचर सा नहीं होता। गम्भीरता से महर्षि के भाष्य का मनन करने पर वे सभी विषय मन्त्रों में स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। इस यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के भाष्य विबोध में इस विषय को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। महर्षि ने इस ४०वें अध्याय के अन्त में सार रूप में जो विषयमाला लिखी थी उस पर वह वह मन्त्र लिख दिया है जिस मन्त्र से महर्षि ने वह विषय ग्रहण किया है।

७–उत्तर अध्याय की पूर्व अध्याय के साथ संगति

महर्षि सम्पूर्ण अध्याय में वर्णन किये गये विषयों के आधार पर उत्तर अध्याय की पूर्व अध्याय के साथ संगति दर्शाते हैं। महर्षि यास्क लिखते हैं "न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः" (निरुक्त० १३।१२)। जिसकी व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इन शब्दों में की हैं—"प्रकरणानुकूलतया पूर्वापर सम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः" (ऋग्वेदा०)॥ अर्थात् वेदभाष्य एवं मन्त्रों का अर्थ करते समय भाष्यकार को सर्वप्रथम प्रकरण के विना एवं पूर्व अपर सम्बन्ध के विचार विना किया गया वेदार्थ दोषपूर्ण होगा। अतः महर्षि ने भाष्य करते समय केवल प्रकरण का अध्यान मात्र ही नहीं रखा है अपितु वेदार्थ के पूर्व अपर सम्बन्ध को अपने भाष्य में दर्शाया भी है। इस यजुर्वेद के ४० वें अध्याय की ३९ वें अध्याय के साथ विद्यमान संगति का स्पष्टीकरण भाष्य विबोध में किया गया है। पाठक अनुशीलन करें।

महर्षि के वेदभाष्य की परिपूर्णता

महर्षि दयानन्द सरस्वती का किया वेदाभाष्य सर्वाङ्ग पूर्ण है। क्योंकि इसमें मन्त्र का विषय निर्देश, पदों का अर्थ, मन्त्र का अन्वय, मन्त्र का भावार्थ आदि एक भाष्य में अपेक्षित सभी लक्षण विद्यमान हैं। भाष्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥
संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे॥

जहां मूल में विद्यमान पदों का अर्थ दर्शाया जाये तथा उन पदों के आधार पर मूल का तात्पर्य समझाया जाये उसे भाष्य कहते हैं। और जो बात मूल में संक्षेप से कही गई है उसका विस्तार के साथ वर्णन करना भाष्य कहलाता है।

महर्षि के वेदभाष्य में यह उल्लिखित भाष्य का लक्षण पूर्णरूपेण घटता है। महर्षि ने मन्त्र के पदों का प्रथम अर्थ दर्शाया है और वेद मन्त्र में विद्यमान पदों के आधार पर भावार्थ में मूल का अभिप्राय भी समझाया है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर मूलमन्त्र में निहित संक्षिप्त अर्थ का विस्तृत वर्णन भी किया है। विद्वान्, स्वाध्यायशील पाठक महर्षि के भाष्य को इस भाष्य-लक्षण के अनुसार परीक्षण करके देख सकते हैं।

महर्षि के अतिरिक्त अन्य जितने भी भाष्यकार हैं उनके किये वेदभाष्य में उक्त भाष्य का लक्षण पूरा नहीं घटता। किसी ने पदों के अर्थ पर अधिक बल दिया है तो कोई भावार्थ के ही प्रकाशन में रत है। वेद में सूत्र रूप में कही वस्तु को खोलकर समझाने का सामर्थ्य तो भाष्यकारों में पाया ही नहीं जाता। अतः महर्षि दयानन्द के

अतिरिक्त अन्यों द्वारा किये गये वेदभाष्य भाष्यलक्षण पर पूरे नहीं उतरते । अतः वे वेदभाष्य अधूरे हैं और महर्षि का किया वेदभाष्य सर्वाङ्गपूर्ण है ।

वेद मन्त्रों पर अन्य ऋषियों द्वारा किये व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थ आदि में उपलब्ध होते हैं । किन्तु जिस विधि से महर्षि दयानन्द ने वेदों का भाष्य किया है उस विधि का अन्य आर्ष भाष्य कोई भी उपलब्ध नहीं होता जिसमें इस प्रकार मन्त्र क्रम से मन्त्रों के अर्थों को संस्कृत और प्राकृत भाषा मे साधारण जनता के लिये बिना किसी भेदभाव के खोलकर रख दिया हो । आर्यों के लिये यह महर्षि की वेदभाष्य रूपी अनुपम देन है । महर्षि के आगमन से पूर्व भी वेद विद्यमान थे किन्तु मानव जाति उनसे अर्थज्ञान के बिना कोई लाभ नहीं उठा सकती थी । वेदों का भाष्य करके महर्षि ने मानव जाति का महान् कल्याण किया है ।

क्या मन्त्र का ऋषि मन्त्रार्थ में सहायक है ?

आजकल कुछ विद्वानों में यह एक धारणा प्रचलित हो गई है कि जिस प्रकार मन्त्र का देवता मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय बनकर मन्त्र के अर्थ को प्रकाशित करता है इसी प्रकार मन्त्र का ऋषि भी अपने यौगिक अर्थ के आधार पर मन्त्र के अर्थ में सहायता प्रदान करता है । अतः मन्त्र का अर्थ करते समय मन्त्र के देवता की भांति मन्त्र के ऋषि को भी अवश्य दृष्टि में रखना चाहिये । इसी धारणा के अनुसार अनेक आर्य विद्वानों ने मन्त्रों की व्याख्या सम्बन्धी ग्रन्थ लिखते समय मन्त्रार्थ में मन्त्र के ऋषि के यौगिक अर्थों का भी उपयोग किया है । इसके अतिरिक्त प्रवचन एवं उपदेशों में भी विद्वान् मन्त्र के व्याख्यान करने से पूर्व देवता की भांति ऋषि का यौगिक अर्थ समझाते देखे गये हैं । और ऋषि के अर्थ का मन्त्रार्थ में पूर्णतः उपयोग करने का प्रयास करते हैं ।

इस युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज से बढ़कर वेद के मर्म को समझाने वाला कोई भी विद्वान् उत्पन्न नहीं हुआ । उनके समान वेदभाष्य भी किसी ने नहीं किया । प्राचीन वैदिक साहित्य का ज्ञाता भी उनसे बढ़कर कोई नहीं हुआ । सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के मन्थन के उपरान्त महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने मन्त्र के ऋषि के सम्बन्ध में जो अपनी सम्मति प्रकाशित की है वह इस प्रकार है—

"ऋषयो मन्त्रदृष्टयो मन्त्रान् सम्प्रादुः (निरुक्त) जिस २ मन्त्रार्थ का दर्शन जिस जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस २ मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा जाता है । जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्ता बतलावें उनको मिथ्यावादी समझें । वे तो मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक हैं ।" (सत्यार्थप्रकाश सप्तमसमुल्लास) ॥

महर्षि की सम्मति स्पष्ट है । महर्षि मन्त्र के ऋषि को उस मन्त्र के प्रथम अर्थ-द्रष्टा और उस मन्त्र के अध्यापक मानते हैं । मन्त्रों के सब ऋषि ऐतिहासिक पुरुष हैं । उनका नाम इतिहास की सुरक्षा के लिये एवं पूर्वजों की उक्त स्मृति के लिये मन्त्रों

के साथ लिखा गया है न कि मन्त्र के अर्थ में सहायता प्रदान के लिये। जो विद्वान् ऋषि को मन्त्रार्थ में सहायक मानते हैं उनके पक्ष में निम्न दोष हैं—

१—ऋषि मन्त्रार्थ में सहायक है इस पक्ष के पोषण में कोई आप्त प्रमाण नहीं।

२—मन्त्र का ऋषि किस भांति मन्त्रार्थ में सहायता प्रदान करता है, कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं।

३—यदि ऋषि मन्त्र के देवता के समान मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है तो निरुक्त में देवता पदों के समान ऋषि पदों के निर्वचन भी उपलब्ध होने चाहियें।+

४—जैसे बहुत मन्त्रों का एक ही देवता है इसी प्रकार बहुत से मन्त्रों का ऋषि भी एक ही उपलब्ध होता है। क्या वह ऋषि समान रूप से, जितने भी वेद में तत्सम्बन्धी मन्त्र हैं, मन्त्रार्थ में सहायक होगा।

५- बहुत से ऋषि पद अपत्यप्रत्ययान्त हैं जिनमें पिता नाम स्पष्ट है। जो प्राचीन ऋषियों के वंश को स्पष्ट करते हैं। क्या किसी ऐतिहासिक पुरुष का नाम मन्त्रार्थ में सहायक हो सकता है। यदि हां तो महर्षि दयानन्द ने भी अनेक नवीन मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित किया है। कृपया उनके नाम के साथ मन्त्रार्थ की संगति दर्शाने का अनुग्रह करें।

६—क्या महर्षि दयानन्द को इस रहस्य का पता नहीं था। महर्षि ने मन्त्र के ऋषि का मन्त्रार्थ में उपयोग क्यों नहीं किया। क्या महर्षि का वेदभाष्य अपूर्ण है?

भाष्यविबोध×

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन का अधिक समय वेदभाष्य की रचना में लगाया और वेदों का अनुपम भाष्य किया। आर्य भाषा में वेदों के अर्थों को प्रकाशित करने का सर्वप्रथम श्रेय महर्षि दयानन्द को ही है। महर्षि ने साधारण जनता के लाभ के लिये अपने वेद के संस्कृतभाष्य का आर्यभाषा में भी अनुवाद करवाया। किन्तु जिस प्रकार से महर्षि के सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों का प्रचार एवं प्रसार हुआ वैसा उनके किये वेदभाष्य का प्रचार साधारण जनता में न हो सका।

+ 'निरुक्त २-३-११—ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श—इत्यौपमन्यवः, तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भवभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते॥" अर्थात् मन्त्र के अर्थ का दर्शन, साक्षात्कार करने से ऋषि होता है। औपमन्यव यही कहता है कि स्तोत्र-मन्त्र और उनके अर्थों का प्रत्यक्ष करने वाला ऋषि होता है। तपस्या करते हुए समाधिस्थ उनको स्वयंभू ब्रह्म—ईश्वर, वेदमन्त्र, वेदमन्त्रार्थ और तज्जन्य सर्वोत्कर्ष प्राप्त होता है। इस स्थल से स्पष्ट है कि ये ऋषि तपस्वी ऐतिहासिक हैं।

× विविधोबोधो विशुद्धो बोधो विशिष्टो बोधो नानाबोधो वा विबोध इति॥

—जगदेवसिंह सिद्धान्ती

वेदभाष्य समझने में एक कठिनाई

इसमें जहाँ अन्य अनेक कारण हैं वहां एक यह भी प्रधान कारण रहा है कि साधारण जनता तो क्या विद्वान् भी ऋषि भाष्य के समझने में कुछ कठिनाई का अनुभव करते रहे हैं। कठिनाई यह है कि स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति मन्त्र में विद्यमान पदों का अर्थ ऋषि के किये 'पदार्थ' नामक सन्दर्भ में पढ़ जाता है। महर्षि ने पदार्थों में व्याकरण के सूत्र निर्देश पूर्वक मन्त्र-पदों की सिद्धियां भी दर्शा दी हैं। पदों के निर्वचन भी अर्थ के साथ-साथ दे दिये हैं। वेद में होने वाले व्यत्ययों का भी यथास्थान उल्लेख कर दिया है। निघण्टु, निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थ आदि के प्रमाण भी पदार्थ के साथ लिख दिये हैं। इससे जिनकी शास्त्रीय योग्यता इतनी नहीं है उन्हें मन्त्रार्थ समझने में कठिनाई का अनुभव होता है। और जिन्होंने आर्ष पद्धति से विधिपूर्वक आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया है उनको तो ऋषिभाष्य के अध्ययन में अत्यन्त रसानुभूति होती है और ऋषि के ज्ञान सागर का पारावार न देख कर श्रद्धा से मस्तिष्क झुक जाता है।

वेदभाष्य की अध्ययन पद्धति

जो ऋषि भक्त श्रद्धालु आर्यजन जिन्हें आर्ष पद्धति के आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ किन्तु जो महर्षि के शब्दों में ही वेदभाष्य का स्वाध्याय करना चाहते हैं वे यदि व्याकरणसिद्धि एवं निर्वचन आदि भाष्यांश को छोड़कर पदार्थ मात्र पढ़ते हैं तब उन्हें मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ तो ज्ञात हो जाता है किन्तु केवल पदों के अर्थ ज्ञान से वाक्य नहीं बना पाते। जबतक पदार्थ वाक्यार्थ में परिवर्तन न किया जाये तब तक केवल पदार्थ से कोई तात्पर्य ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः ऋषि ने इसका उपाय अन्वय में दर्शा दिया है। मन्त्र के पदार्थ ज्ञान के साथ मन्त्र के अन्वय को समझना चाहिये। जब आपने मन्त्र के पदों का अर्थ भी जान लिया और मन्त्र के अन्वय को भी समझ लिया। अब आप अन्वय पूर्वक मन्त्र-पदों की योजना कीजिये। ऐसा करने से आपके सामने ऋषि के वेदभाष्य में एक सुन्दर वाक्यरचना प्रस्तुत होगी। जिससे आपको मन्त्र का अर्थ सर्वथा स्पष्ट हो जायेगा।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की इस अध्ययन-पद्धति को समझाने की भावना से ही यह 'यजुर्वेदभाष्य (४० अ०) विबोधाङ्क' आपकी सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें मैंने प्रत्येक मन्त्र के ऋषिभाष्य की अन्वयपूर्वक पदार्थ योजना की है। ऋषि का एक पद भी अन्वय और पदार्थ में से नहीं छोड़ा गया है और न कोई एक पद अपनी ओर से बढ़ाया गया है। उक्त योजना मात्र ही की गई है।

अन्वय की रीति से जहां क्रिया के साथ वाक्यरचना पूरी हो गई है वहां वाक्य को पूर्ण विराम दे दिया गया है। और नया वाक्य नये सन्दर्भ से प्रारम्भ किया गया है जिससे भाव समझने में सरलता रहे। इस पद्धति से आप महर्षि के सम्पूर्ण भाष्य का अनुशीलन करें आपको महर्षि का वेदभाष्य अत्यन्त सरल सरस मधुर एवं गम्भीर अनुभव होगा।

वेदभाष्य का धारावाही भावार्थ

महर्षि के वेदभाष्य की इस अन्वयपूर्वक पदार्थ योजना में ऋषि भाष्य में आये अध्याहृत पदों को [ ] चतुष्कोण में रखा गया है। मन्त्र के पद ( ) कोष्ठक में दिये गये हैं। ऋषि के संस्कृतभाष्य के साथ-साथ सर्वसाधारण के लाभ के लिये भाषार्थ धारावाही वाक्य योजना में सुसंगत होने से भावार्थ स्वयं बनाया गया है।

वेदभाष्य का भावार्थ विबोध

महर्षि के वेदभाष्य का भावार्थ जो कुछ मनोवांछित सा प्रतीत होता था उसका हमने गम्भीर अनुशीलन करके महर्षि के 'भावार्थ' में विद्यमान जो जो भाव मन्त्र के जिस जिस अंश से ग्रहण किये प्रतीत हुए 'भावार्थ' में मन्त्र का उतना अंश अपनी समझ के अनुसार कोष्ठक में लिख दिया है। जिससे प्रत्येक पाठक महर्षि के वेदभाष्य के गम्भीर्य को समझ सके और जान सके कि अमुक अमुक भावार्थ मन्त्र के अमुक अंश से झर रहा है।

महर्षि ने वेदभाष्य में कहीं-कहीं मन्त्र में निहित गम्भीर भावों को अर्थापत्ति आदि से भी प्रकाशित किया है। कहीं-कहीं भाष्य में मन्त्र के आधार पर शिक्षा रूप में विशेष भी लिख दिया है सो भी अर्थापत्ति एवं शिक्षा आदि के नाम से भावार्थ में हमने दर्शा दिया है।

अन्यत्र व्याख्यान मन्त्र

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के मन्त्रों को सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में जहाँ-जहां प्रमाण रूप में उद्धृत करके उनकी विशेष व्याख्या की है हमने उस विशिष्ट व्याख्यांश को उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि ग्रन्थ का नाम निर्देशपूर्वक दे दिया है। जिससे महर्षि के उस मन्त्र सम्बन्धी सब भाव एकत्र पाठकों को उपलब्ध हो सकें।

भाष्यनिष्कर्ष

महर्षि ने अपने वेदभाष्य में प्रत्येक मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय दर्शाया है। और अन्त में सम्पूर्ण अध्याय में वर्णन किये गये विषयों का भी उल्लेख किया है। भाष्य-निष्कर्ष महर्षि द्वारा दर्शाये मन्त्र के विषयों के एवं प्रत्येक मन्त्र के भाष्यानुसार ही निष्कर्ष भी प्रस्तुत किया है। इससे पाठकों को ऋषिभाष्य तथा मन्त्र के अर्थ को हृदयङ्गम करने में बड़ी सरलता होगी।

विशिष्ट पदार्थ व्याख्या

महर्षि ने वेदभाष्य के पदार्थ नामक सन्दर्भ में यत्र तत्र मन्त्र-पदों का विशिष्ट

अर्थ दर्शाया है। उस विशिष्ट पदार्थ के पोषण में हमने व्याख्या लिखी है। जिससे पाठक समझ सकेंगे कि महर्षि के किये मन्त्र-पदों के विशिष्टार्थ बड़े ही विद्वत्तापूर्ण एवं सारगर्भित हैं।

अध्याय के विषयों का विवरण

महर्षि ने अन्त में सम्पूर्ण अध्याय के विषयों का वर्णन किया है। हमने इन विषय वर्णन का विवरण प्रस्तुत किया है कि महर्षि ने अमुक विषय अमुक मन्त्र से ग्रहण करके लिखा है। विषय के साथ ही साथ मन्त्र का उल्लेख कर दिया गया है।

उत्तर अध्याय की पूर्व अध्याय के साथ संगति

महर्षि ने सम्पूर्ण अध्याय के विषयों के आधार पर ४० वें अध्याय की ३९ वें अध्याय के साथ संगति का कथन किया है। उसको हमने यथाशक्ति भाष्यविबोध में समझाने का प्रयास किया है।

यजुर्वेदभाष्य (४० अ०) विषय सूची

यजुर्वेद ४० वें अध्याय के सम्पूर्ण ऋषिभाष्य का अनेक बार पारायण करके यह यजुर्वेद भाष्य (४० अ०) की विषय सूची तैयार की गई है। जिसमें प्रत्येक पाठक भाष्य के विषयों को शीशे के समान देख सकता है। और इसके आधार पर बड़ी सरलता से यह अनुमान लगा सकता है कि जब महर्षि ने केवल १७ मन्त्रों के भाष्य में ही कितने गम्भीर विषयों को किस प्रकार खोलकर रख दिया है। यदि महर्षि के सम्पूर्ण वेदभाष्य का इस विधि से मन्थन किया जाय तो महर्षि के कितने विचार रत्न प्रकाश में आ सकते हैं। यह विद्वानों का परम कर्तव्य है कि वे महर्षि के सम्पूर्ण वेदभाष्य का पूरा मन्थन करें और उसमें से अमूल्य विचार-रत्न निकाल कर जहां वे स्वयं लाभान्वित हों वहां विश्व को भी लाभान्वित करें तथा महर्षि की महिमा सुगन्धि को फैलावें।

वेदभाष्य और आर्य विद्वान्

इस भाष्यविबोध में हमने यह भी पुष्ट प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट किया है कि आर्य विद्वानों की पुरानी पीढ़ी ने महर्षि के वेदभाष्य का जितना समादर करना चाहिये था, नहीं किया। वर्तमान दशा तो उससे भी कहीं अधिक शोचनीय है। आज भी महर्षि के वेदभाष्य के प्रति उपेक्षावृत्ति ही दृष्टिगोचर हो रही है, जो अवाञ्छनीय है। निवेदन है कि आर्य विद्वान् महर्षि के वेदभाष्य की महिमा को स्वयं समझें तथा आर्यों को समझावें।

शांकरभाष्य पर एक दृष्टि

प्रस्तुत भाष्यविबोध में ईशोपनिषद् भाष्य के माध्यम से उपलब्ध यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के शांकरभाष्य पर एक दृष्टि डाली गई है उससे विद्वान् महर्षि के वेदभाष्य की सत्यता और शांकर भाष्य के मिथ्यात्व की परीक्षा कर सकते हैं।

विद्वत्समाज से निवेदन

महर्षि के वेदभाष्य को स्वयं समझना तथा समझाना किसी अनुभवी विद्यापारंगत महान् विद्वान् का ही कार्य है। किन्तु यथामति इस दिशा में जो इस अल्पबुद्धि ने प्रयास किया है आशा है विद्वत् समाज इसका भी समादर करेगा। और इस प्रयत्न में हुई भूलों को क्षमा न करके मेरा पथप्रदर्शन करेगा। मैं उसे अपने ऊपर महान् अनुग्रह समझूंगा।

॥ इति भूमिका ॥

सुदर्शनदेव आचार्य

॥ ओ३म् ॥

अथ चत्वारिंशाध्यायारम्भः ॥

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥१॥

ईशावास्यमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
अनुष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ मनुष्याः परमात्मानं विज्ञाय किङ्कुर्यु रित्याह॥

मनुष्य ईश्वर को जानके क्या करें इस विषय को कहते हैं।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्य त्वं] (यत) (इदम्) प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तम् (सर्वम्) अखिलम् (जगत्याम्) गम्यमानायां सृष्टौ (जगत्) यद् गच्छति तत् (ईशा) ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना (वास्यम्) आच्छादयितुं योग्यं सर्वतोऽभिव्याप्यम् [अस्ति]।

(तेन) (त्यक्तेन) वर्जितेन तच्चित्तरहितेन (भुञ्जीथाः) भोगमनुभवेः।

(किं) (च) (कस्य स्वित्) कस्यापि स्विदिति प्रश्ने वा (धनम्) वस्तुमात्रम् (मा) निषेधे (गृधः) अभिकांक्षीः ॥१॥

भाषार्थ

हे मनुष्य तू (यत्) जो (इदम्) प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त (सर्वम्) सब (जगत्याम्) चलायमान सृष्टि में (जगत्) जड़ चेतन जगत् है वह (ईशा) ईश्वर अर्थात् सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्व शक्तिमान् परमात्मा के द्वारा (वास्य) आच्छादित अर्थात् सब ओर से अभिव्याप्त किया हुआ है।

(तेन) इसलिये (त्यक्तेन) त्यागपूर्वक अर्थात् जगत् से चित्त को हटा के (भुञ्जीथाः) भोगों का उपभोग कर।

(किं च) और कस्यस्वित्) यह धन किसका है अर्थात् किसी का नहीं अतः किसी के भी (धनम्) वस्तु मात्र की (मा) मत (गृधः) अभिलाषा कर ॥१॥

भावार्थः

(ईशावास्यमदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्) ।

ये मनुष्या ईश्वराद् बिभ्यत्ययमस्मान् सर्वदा सर्वतः पश्यति, जगदिमीश्वरेण व्याप्तं सर्वत्रेश्वरोऽस्ति ।

(मा गृधः कस्य स्विद्धनम्)

इति व्यापकमन्तर्यामिणं निश्चित्य कदाचिदप्यन्यायाचरणेन कस्यापि किञ्चिदपि द्रव्यं ग्रहीतुं नेच्छेयुः ।

(तेन त्यक्तेन, भुञ्जीथाः) ?

ते धार्मिका भूत्वाऽत्र परत्राभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देयुः ॥१॥

भावार्थ

जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हम को सब काल में सब ओर से देखता है । यह जगत् ईश्वर से व्याप्त अर्थात् सब स्थानों में ईश्वर विद्यमान है ।

इस प्रकार उस व्यापक अन्तर्यामी को जानकर कभी भी अन्याय आचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण नहीं करना चाहते ।

वे इस त्याग से धार्मिक होकर इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निःश्रेयस रूप फलों को भोगकर सदा आनन्द में रहते हैं ।

ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश सप्तमसमुल्लास में भी इस मन्त्र का व्याख्यान किया है। वहां "ईश्वर जगत् का नियन्ता है······आत्मा से आनन्द को भोग" इतना विशेष लिखा है।

भाष्यनिष्कर्ष

ईश्वर के गुण और कर्मों का वर्णन ॥

ईश्वर सकलैश्वर्य सम्पन्न, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी और जगत् का नियन्ता है। वह सबको सब काल में देखता है ।

अधर्मत्याग का उपदेश ॥

हे मनुष्य ! तू सर्वदा उस ईश्वर से डर कर अन्यायाचरण अर्थात् अधर्म का परित्याग कर और न्यायाचरण रूप धर्म से परमात्मा के दिये ऐश्वर्य का उपभोग कर। यह धन किसी का नहीं है अतः लोभ का परित्याग करके धार्मिक बन तथा अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करके अपने आत्मा से आनन्द को भोग और सर्वदा आनन्द में रह ।

जगत्याम् । जगत् ।।

इस मन्त्र में 'जगत्याम्' और 'जगत्' शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं किन्तु यहां जगती शब्द सृष्टि का वाचक है। और जगत् शब्द सृष्टि में विद्यमान जड़ और चेतन दोनों पदार्थों का ग्राहक है। ऋषि ने पदार्थ में जगत् का निर्वचन किया है—यद् गच्छति तत्। चेतन तथा प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त सब जड़ पदार्थ गतिशील हैं, अतः जगत् शब्द से कहे गये है।

त्यक्तेन ।।

ऋषि ने इस पद से दो अर्थों का ग्रहण किया है। पदार्थ में लिखा है—'त्यक्तेन वर्जितेन तच्चित्तरहितेन'। त्याग से अर्थात् जगत् से चित्त को हटाकर। मन्त्र के द्वितीय चरण में जगत् का वर्णन है अतः यह अर्थ जगत् से सम्बद्ध है। इस पद से दूसरा अर्थ ग्रहण किया है अधर्माचरण के त्याग से। मन्त्र के तृतीय चरण में धर्माचरण का वर्णन है उसको दृष्टि में रखते हुये उक्त अर्थ किया गया है।

भुञ्जीथाः

इस पद का साधारण अर्थ है—भोग कर। ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होने वाले दो भोग हैं जो धर्माचरण से सिद्ध होते हैं—१ अभ्युदय-ऐहलौकिक सुख २-निःश्रेयस-पारलौकिक सुख। अतः ऋषि ने इस पद से अभ्युदय और निःश्रेयस अर्थ ग्रहण किया है।

— :o: —

कुर्वन्नित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
भुरिगनुष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

अथ वैदिक कर्मणः प्राधान्यमुच्यते ।।

अब वेदोक्त कर्म की उत्तमता बतलाई जाती है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।२।

संस्कृतार्थः

[मनुष्य] (इह) अस्मिन् संसारे (कर्माणि) धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्काम-कृत्यानि (कुर्वन्नेव) (शतम्) (समाः) संवत्सरान् (जिजीविषेत्) जीवितुमिच्छेत् ।

(एवम्) अमुना प्रकारेण [धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने] (त्वयि) (नरे) नयनकर्तरि (न) निषेधे (कर्म) अधर्म्यमवैदिकं मनोरथ सम्बन्धि कर्म (लिप्यते) ।

(इतः) अस्मात् प्रकारात् (अन्यथा) (न) निषेधे (अस्ति) भवति [लेपाभावः] ॥२॥

भाषार्थ

मनुष्य (इह) संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त वेदोक्त, निष्काम कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे ।

(एवम्) इस प्रकार से धर्मयुक्त कर्म में लगे हुये (त्वयि) तुझ (नरे) व्यवहारों के नायक नर में (कर्म) अपने मनोरथ से किये अधर्म युक्त, अवैदिक कर्मों का (न, लिप्यते) लेप नहीं रहता है ।

(इतः) इस वेदोक्त प्रकार से भिन्न (अन्यथा) अन्य प्रकार से कर्म के लेप का अभाव (न) नहीं (अस्ति) है ।

भावार्थः

(कुर्वन्नेवेह कर्माणि)

मनुष्या आलस्यं विहाय सर्वस्य द्रष्टारं न्यायाधीशं परमात्मानं कर्तुमर्हां तदाज्ञां च मत्वा शुभानि कर्माणि कुर्वन्तोऽशुभानि त्यजन्तो ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षे प्राप्योपस्थेन्द्रियनिग्रहेण वीर्यमुन्नीयाल्पमृत्युं घ्नन्तु ।

(जिजीविषेच्छतꣳ समाः)

युक्ताहार विहारेण शतवार्षिकमायुः प्राप्नुवन्तु ।

(एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे)

यथा यथा मनुष्याः सुकर्मसु चेष्टन्ते तथा तथैव पापकर्मतो बुद्धिर्निवर्तते ।

भावार्थ

मनुष्य लोग आलस्य को छोड़कर सबके द्रष्टा न्यायाधीश परमात्मा को और आचरण करने योग्य उसकी आज्ञा को मानकर शुभ कर्मों को करते हुये और अशुभ कर्मों को छोड़ते हुये, ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त करके उपस्थेन्द्रिय के संयम से वीर्य को बढ़ाकर अल्पायु में मृत्यु को हटावें ।

और युक्त आहार विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होवें ।

जैसे जैसे मनुष्य श्रेष्ठ कर्मों की ओर बढ़ते हैं वैसे २ ही पाप कर्मों से उनकी बुद्धि हटने लगती है ।

फलितार्थ:—

विद्याऽऽयु: सुशीलता च वर्धते। — जिसका फल यह होता है कि विद्या आयु और सुशीलता आदि गुणों की वृद्धि होती है।

ऋषि ने इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का व्याख्यान 'सत्यार्थप्रकाश' (सप्तमसमुल्लास) में भी किया है। वहां परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहने वालों को महामूर्ख बतलाया है। आलस्य के त्याग और पुरुषार्थ के अनुष्टान के लिये बहुत बल दिया है तथा समझाया है कि पुरुषार्थी एवं उपकार के कार्य करने वाले व्यक्ति का ही परमात्मा सहायक होता है। विषय को उदाहरणों से बहुत स्पष्ट करके समझाया है।

ऋषि ने 'संस्कारविधि' (गृहाश्रम प्रकरण) में भी इस मन्त्र का व्याख्यान किया है। वहां आलस्य के परित्याग तथा पुरुषार्थी होने के साथ उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की उन्नति करने का विशेष उल्लेख किया है॥

भाष्यनिष्कर्ष

सर्वदा सत्कर्म का अनुष्ठान आवश्यक है॥

वेदोक्त कर्म अत्युत्तम हैं। वे ही सत्कर्म एवं निष्काम कर्म कहाते हैं। ईश्वर की आज्ञा है कि मनुष्य आलस्य को छोड़कर जीवन पर्यन्त शुभकर्मों का अनुष्टान करे एवं सत्कर्म करने के लिये रोगरहित दीर्घायु को पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करे। सत्कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक इसलिये है कि आत्मा पर दुष्कर्मों का चढ़ा हुआ लेप एकमात्र वेदोक्त सत्कर्मों के अनुष्टान से ही धुलता है।

कर्माणि। कर्म॥

इस मन्त्र में 'कर्माणि' और 'कर्म' इस रूप में कर्म शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। प्रकरण के अनुसार प्रथम 'कर्माणि' शब्द से श्रेष्ठ कर्मों का ग्रहण किया गया है। क्योंकि मन्त्र के प्रथम चरण में कर्म करने का विधान है। श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्टान का ही परमेश्वर उपदेश करता है। द्वितीय कर्म शब्द से दुष्कर्मों का ग्रहण किया गया है क्योंकि मन्त्र के अन्तिम चरण में कर्म-लेप का वर्णन है। आत्मा पर दुष्कर्मों का लेप ही पतन की ओर ले जाता है। उसको हटाने का एक मात्र उपाय श्रेष्ठ कर्मों का पालन वेद ने बतलाया है। कुछ एक उपादेय श्रेष्ठ कर्मों का तथा हेय दुष्कर्मों का दिग्दर्शन भाष्य में ऋषि ने करा दिया है।

शतं समा:

इन पदों का सीधा अर्थ है—सौ वर्ष। शास्त्रोक्त मनुष्य की आयु सौ वर्ष है। ऋषि ने भाष्य में सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने के प्रधान साधनों का भी वर्णन कर दिया है। यहाँ सौ वर्ष का तात्पर्यार्थ जीवन काल है।

—:o:—

असुर्या इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
अनुष्टुप् छन्दः। गन्धारः स्वरः॥

अथात्महन्तारो जनाः कीदृशा इत्याह ॥

अब आत्मा का हनन अर्थात् आत्मा को भूले हुये जन कैसे होते हैं, इस विषय को कहते हैं।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

संस्कृतार्थः

[ये] (लोकाः) लोकन्ते पश्यन्ति ते जनाः (अन्धेन) अन्धकाररूपेण (तमसा) अत्यावरकेण (आवृताः) समन्ताद् युक्ता आच्छादिताः (ये) (के) (च) (आत्महनः) य आत्मानं घ्नन्ति तद्विरुद्धमाचरन्ति ते (जनाः) मनुष्याः [सन्ति] (ते) (असुर्याः) असुराणां प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः (नाम) प्रसिद्धौ (ते) (प्रेत्य) मरणं प्राप्य (अपि) जीवन्तोऽपि (तान्) दुःखान्धकारावृतान् भोगान् (गच्छन्ति) प्राप्नुवन्ति॥३॥

भाषार्थ

जो (लोकाः) लोग (अन्धेन) अन्धकार रूप (तमसा) अज्ञान के आवरण से (आवृताः) सब ओर से ढके हुये (ये) (के) (च) और जो कोई (आत्महनः) आत्मा के विरुद्ध आचरण करने हारे (जनाः) मनुष्य हैं। (ते) वे (असुर्याः) अपने प्राणपोषण में तत्पर, अविद्या आदि दोषों से युक्त, लोगों एवं उनके सम्बन्धियों के सदृश पाप कर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध हैं (ते) वे (प्रेत्य) मरने के पीछे (अपि) और जीते हुये भी (तान्) उन दुःख अज्ञान रूप अन्धकार से युक्त भोगों को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः

(असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः, ये के चात्महनो जनाः)

त एव असुरा दैत्या राक्षसाः पिशाचा दुष्टा मनुष्या य आत्मन्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यदाचरन्ति।

वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच एवं दुष्ट हैं, जो आत्मा में और, वाणी में और, तथा कर्म में कुछ और ही करते हैं।

(ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति)

ते न कदाचिदविद्यादुःखसागरादुत्तीर्याऽऽनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति ।

वे कभी अविद्या रूप दुःख सागर से पार होकर आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकते ।

(अर्थापत्तितः)

ये च यदात्मना तन्मनसा यन्मनसा तद्वाचा यद्वाचा तत्कर्मणाऽनुतिष्ठन्ति त एव देवा आर्याः सौभाग्यवन्तोऽखिल जगत्पवित्रयन्त इहामुत्रातुलं सुखमश्नुवते ॥३॥

और जो लोग जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में कपट रहित आचरण करते हैं वे ही देव, आर्य, सौभाग्यवान् जन सब जगत् को पवित्र करते हैं और इस लोक तथा परलोक में अनुपम सुख को भोगते हैं ॥ ३ ॥

ऋषि ने इस मन्त्र का 'व्यवहार भानु' में भी व्याख्यान किया है। वहां असुरों के लिये दुःखदायक देहादिपदार्थों की प्राप्ति तथा देवों के लिये आनन्दयुक्त देहादिपदार्थों की प्राप्ति का विशेष उल्लेख किया है।

भाष्यनिष्कर्ष

अधर्माचरण की निन्दा

केवल शरीर के पोषण में लगे रहने वाले, अविद्यादिदोषयुक्त, आत्मा में स्थित ज्ञान के विरुद्ध आचरण करने वाले अधर्मात्मा मनुष्य ही दैत्य, राक्षस, पिशाच एवं दुष्ट कहाते हैं। वेद मन्त्र में उनको असुर नाम से पुकार कर उनकी निन्दा की गई है कि वे सदा अविद्यारूपी दुःखसागर में पड़े रहते हैं वे आत्म-हत्यारे कभी भी आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकते।

आत्मा में स्थित ज्ञान के अनुकूल कहना, मानना एवं आचरण करना धर्माचरण कहाता है। ऐसे धर्मात्मा मनुष्य सौभाग्यशाली, पवित्रात्मा होते हैं और वे ही देव एवं आर्य कहाते हैं जो इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं।

असुर्याः

ऋषि ने इस पद से दो अर्थ ग्रहण किये हैं—१–असुरों के सम्बन्धी २–असुर (दुष्ट)। ऋषि ने पदार्थ में लिखा है—'असुराणां······इमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशाः पापकर्माणः'। असुरों के सम्बन्धी अर्थात् सदृश पापकर्मा लोग। क्योंकि असुर्य सम्बन्ध अर्थ में तद्धितान्त पद है। किन्तु भाव पापी लोगों से ही है अतः भावार्थ में सीधा असुर अर्थ ही ग्रहण कर लिया है और उसको अधिक स्पष्ट करने के लिये दैत्य पिशाच आदि असुर के पर्याय भी लिख दिये हैं।

आत्महनः

इस पद का अर्थ है आत्मा का हनन करने वाले। आत्मा तो अजर अमर है। उसका हनन संभव नहीं। अतः तात्पर्यार्थ है—आत्मा में विद्यमान ज्ञान के विरुद्ध आचरण करने वाले। ऋषि ने भाष्य में असुरों का लक्षण करते हुये इस पद को खूब खोल कर समझा दिया है।

वेद मन्त्र में असुरों का लक्षण एवं उनकी निन्दा की गई है किन्तु भाष्य ऋषि ने अर्थापत्ति से देवों (आर्यों) का लक्षण तथा उनकी स्तुति का भी उल्लेख कर दिया है।

—:o:—

अनेजदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। ब्रह्म देवता। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

कीदृशो जन ईश्वरं साक्षात्करोतीत्याह॥

कैसा जन ईश्वर का साक्षात् करता है इस विषय को कहते हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

संस्कृतार्थः

[हे विद्वांसो मनुष्या यद्] (एकम्) अद्वितीयं ब्रह्म (अनेजत्) न एजते कम्पते तदचलत् स्वावस्थायाश्च्युतिः कम्पनं तद् रहितम्।

(मनसः) मनोवेगात् (जवीयः) अति शयेन वेगवत् (पूर्वम्) पुरःसर (अर्षत्) गच्छत् [ब्रह्मास्ति]।

(एनत्) (देवाः) चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा (न) (आप्नुवन्) प्राप्नुवन्ति।

(तत्) स्वयं (तिष्ठत्) स्वस्वरूपेण स्थिरं सत् स्वानन्तव्याप्त्या (धावतः) विषयान् प्रति पततः (अन्यान्) स्वस्वरूपाद् विलक्षणान् मनोवागिन्द्रियादीन् (अति) उल्लंघने (एति) प्राप्नोति गच्छति।

भाषार्थ

हे विद्वान् मनुष्यो! जो (एकम्) अद्वितीय ब्रह्म है वह (अनेजत्) कंपन रहित अर्थात् अपनी अवस्था (स्वरूप) से कभी विचलित नहीं होता।

वह (मनसः) मन के वेग से भी (जवीयः) अतिवेगवान् (पूर्वम्) सब का अग्रणी, (अर्षत्) सर्वत्र मन से पहले पहुंचा हुआ ब्रह्म है।

(एनत्) इस ब्रह्म को (देवाः) अविद्वान् अथवा चक्षु आदि इद्रियां (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्त कर सकती हैं।

(तत्) वह स्वयं तिष्ठत् अपने स्वरूप में स्थिर हुआ अपनी अनन्त व्यापकता से (धावतः) विषयों की ओर भागते हुये (अन्यान्) उसके अपने स्वरूप से भिन्न मन, वाणी, इन्द्रिय आदिकों को (अति) (एति) प्राप्त नहीं होता।

(तस्मिन्) स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते (मातरिश्वा) मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति प्राणान् धरति वायुः [तद्वद् वर्तमानो जीवः] (अपः) कर्म क्रियां वा (दधाति) [इति जानीत] ॥४॥

उस सर्वत्र व्यापक स्थिर ब्रह्म में (मातरिश्वा) जैसे अन्तरिक्ष में वायु क्रियाशील रहता है वैसे ही जीव (उस ब्रह्म में) कर्म वा क्रिया को धारण करता है, ऐसा जानो ॥४॥

भावार्थः

(मनसो जवीयः, पूर्वमर्षत्) ।

ब्रह्मणोऽनन्तत्वाद् यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र पुरस्तादेवाभिव्याप्तमग्रस्थं ब्रह्म वर्तते । तद् विज्ञानं शुद्धेन मनसैव जायते ।

(नैनद् देवा आप्नुवन्) ।

चक्षुरादिभिर विद्वद्भिश्च द्रष्टुमशक्यमस्ति ।

(अनेजदेकम्, तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति) ।

स्वयं निश्चलं सत् सर्वान् जीवान् नियमेन चालयति धरति च ।

(तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्)

तस्यातिसूक्ष्मत्वादतीन्द्रियत्वाद् धार्मिकस्य विदुषो योगिन एव साक्षात्कारो भवति, नेतरस्य ॥ ४ ॥

भावार्थ

ब्रह्म अनन्त है, अतः जहां जहां मन जाता है वहां २ पहले से ही ब्रह्म व्यापक है । उस ब्रह्म का ज्ञान शुद्ध मन से ही होता है ।

उसे चक्षु आदि इन्द्रियां और अविद्वान् लोग नहीं देख सकते ।

वह स्वयं स्थिर रहता हुआ सब जीवों को नियम से चलाता है और उनको धारण करता है ।

ब्रह्म के अतिसूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय होने से धार्मिक विद्वान् योगी को ही उसका साक्षात्कार होता है विषयों की ओर भागने वाले को नहीं ।

ऋषि ने इस मन्त्र का द्वितीय चरण ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका (वेद विषयविचार) में उद्धृत किया है । वहां देव शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है—"यहां देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है, । श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन ये छः इन्द्रियां देव कहाती हैं, क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इन से प्रकाश होता है"।

परमेश्वर के अतिसूक्ष्म स्वरूप का वर्णन

परमेश्वर अद्वितीय है अर्थात् उस जैसा संसार में कोई नहीं है। वह कभी भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। वह मन से भी अधिक वेगवान् है। ब्रह्म इतना सूक्ष्म है कि देव अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन भी उसको प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्म सूक्ष्म होने से सर्वाग्रणी, सर्वत्र परिपूर्ण एवं सर्वत्र पहुँचा हुआ है। वह स्वयं स्थिर रहता हुआ सब जीवों को नियम में चलाता है और उनको धारण करता है। जैसे प्राणों का आधार वायु, सूक्ष्म अन्तरिक्ष में क्रियाशील रहता है इसी प्रकार जीव अतिसूक्ष्म ब्रह्म में अपनी क्रिया को धारण करता है। अति सूक्ष्म स्वरूप वाले ब्रह्म को शुद्ध मन वाले धार्मिक विद्वान् योगी ही साक्षात् करते हैं। विषयों की ओर भागने वाले लोग चक्षु आदि इन्द्रियों से उसे कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते।

देवा :

इस मन्त्र में देव शब्द के ऋषि ने दो अर्थ दर्शाये हैं—१. चक्षु आदि इन्द्रियां, २. अविद्वान्। चक्षु आदि इन्द्रियां अपने अपने विषयों का द्योतन=प्रकाशन करने से देव कहलाती हैं—देवो……द्योतनाद्वा (निरुक्त)। देव शब्द लोक में मूर्ख का पर्यायवाची भी प्रसिद्ध है जैसे—देवानां प्रियः=मूर्ख। अतः मन्त्र में प्रकरणवश देव शब्द अविद्वान् अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

अपः

ऋषि ने अपः शब्द का अर्थ कर्म वा क्रिया किया है। 'अपः' शब्द निघण्टु में कर्म-नाम में पठित है।

मातरिश्वा

मातरिश्वा शब्द वायु अर्थ में प्रसिद्ध है किन्तु ऋषि ने तत्साम्य से यहां जीव अर्थ में ग्रहण किया है। ऋषि भाष्य में लिखते हैं—"मातरिश्वा=मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति प्राणान् धरति वायुस्तद्वद् वर्तमानो जीवः"। जैसे अन्तरिक्ष में रहने से वायु मातरिश्वा कहलाता है इसी प्रकार जीव ब्रह्म में रहने से उसका नाम भी मातरिश्वा है। ब्रह्म उसकी माता है वह अपनी माता ब्रह्म के सहाय से रहता है। इसीलिए भाष्य में ब्रह्म को जीवों का नियामक और धारक कहा गया है।

—:o:—

तदेजतीत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

विदुषां निकटेऽविदुषां च ब्रह्मऽदूरेस्तीत्याह ॥

विद्वानों के निकट और अविद्वानों से ब्रह्म दूर है इस विषय को कहते हैं ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या] (तद्) ब्रह्म (एजति) कंपते चलति मूढ़दृष्ट्या (तत्) (न) एजति) कम्पते कम्पयते वा ।

(तत्) (दूरे) [अधर्मात्मभ्योऽविद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः] (तत्) (उ) (अन्तिके) [धर्मात्मनां विदुषां योगिनां] समीपे ।

(तत्) (अस्य) (सर्वस्य) अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा (अन्तः) आभ्यन्तरे ।

(तत्) (उ)(सर्वस्य) समग्रस्य (अस्य) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षात्मकस्य (बाह्यतः) बहिरपि [वर्त्तमानो वर्तते इति निश्चिनुत] ॥५॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (तद्) वह ब्रह्म (एजति) चलता है एसा मूढ़ समझते हैं (तत्) वह (न) नहीं (एजति) चलता है और न कोई उसको चला सकता है ।

(तत्) वह (दूरे) अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से दूर है । (तत्) वह (उ) निश्चय से (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है ।

(तत्) वह ब्रह्म (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् एवं जीवों के (अन्तः) अन्दर विराजमान है ।

(तत्) वह (उ) निश्चय से (अस्य) इस प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के (बहिः) बाहर भी विराजमान है ऐसा निश्चत जानो ॥५॥

भावार्थः — **भावार्थ**

(तदेजति) ।

हे मनुष्यास्तद् ब्रह्म मूढदृष्टौ कम्पत इव ।

हे मनुष्यो ! ब्रह्म चलता सा है ऐसा मूढ़ मानते हैं ।

(तन्नैजति) ।

तत्स्वतो व्यापकत्वात्कदाचिन्न चलति ।

वह व्यापक होने से अपने स्वरूप से कभी भी चलायमान नहीं होता है ।

(तद्दूरे)

ये तदाज्ञाविरुद्धास्त इतस्ततो धावन्तोऽपि तन्न विजानन्ति ।

जो लोग उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं वे उसकी प्राप्ति के लिये इधर उधर भागते हुए भी उसको नहीं जान सकते ।

(तद्वन्तिके) ।

ये चेश्वराज्ञानुष्ठातारस्ते स्वात्मस्थमति निकटं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति ।

जो ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आचरण करते हैं वे अति निकट अपने आत्मा में स्थित ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ।

(तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः) ।

यद् ब्रह्म सर्वस्य प्रकृत्यादेर्बाह्याभ्यन्तरावयवानभिव्याप्य सर्वेषां जीवानामन्तर्यामि रूपतया सर्वाणि पापपुण्यात्मककर्माणि विजानन् याथातथ्यं फलं प्रयच्छति ।

जो ब्रह्म प्रकृत्यादि के बाहर और भीतर के अवयवों में व्यापक होकर सब जीवों के अन्तर्यामी रूप से सब पाप और पुण्य रूप कर्मों को जानता हुआ ठीक ठीक फल प्रदान करता है ।

शिक्षा—

एतदेव सर्वैर्ध्येयमस्मादेव सर्वैर्भेतव्यमिति ॥५॥

शिक्षा—

अतः इसी ब्रह्म का ही सबको ध्यान (उपासना) करना चाहिये और इसी से सब को डरना चाहिये ॥५॥

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान 'आर्याभिविनय' में भी किया है । वहाँ 'तदेजति' की व्याख्या में लिखा है कि "परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी अपनी चाल पर चला रहा है ।" यहां ऋषि के व्याख्यान में 'एजति' पद अन्तर्भावित व्यर्थक समझना चाहिये ।

अविद्वान् के लक्षण में विचार शून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वर भक्ति रहित आदि' इतना विशेष लिखा है । इसी प्रकार विद्वान् के लक्षण में 'सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक, विचारशील' इतना और विशेष उल्लेख किया है ।

परमात्मा के सम्बन्ध में लिखा है—"सो आत्मा का भी आत्मा है.........एक तिलमात्र भी उसके बिना खाली नहीं है ॥

भाष्यनिष्कर्ष

ब्रह्म विद्वानों के लिये ज्ञेय और अविद्वानों के लिये अज्ञेय है।

ब्रह्म निश्चय ही धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है क्योंकि वह निश्चयपूर्वक जानते हैंकि ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। ब्रह्म स्वयं चलायमान नहीं होता किन्तु वह सारे ब्रह्माण्ड को चलाता है। उस अतिसूक्ष्म ब्रह्म की प्राप्ति वे अपने अति निकट आत्मा में करते हैं। किन्तु अविद्वान् अयोगियों से ब्रह्म निश्चय ही दूर है क्योंकि वे उसे चलायमान समझते हैं। वे उसकी प्राप्ति के लिये इधर उधर भागते हुए उसे प्राप्त नहीं कर सकते।

विद्वान् लोग कर्मफलदाता ईश्वर से डर कर धर्माचरण अर्थात् उसकी आज्ञा का पालन करते और उसकी उपासना करते हैं। अतः ब्रह्म धार्मिक विद्वानों के लिये ज्ञेय है। किन्तु अविद्वान् लोग कर्मफल-प्रदाता, सर्व व्यापक ईश्वर से न डरकर अधर्माचरण अर्थात् उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं। वे ब्रह्म से भिन्न वस्तु की उपासना करते हैं। अतः ब्रह्म अविद्वानों के लिए अज्ञेय है।

मन्त्र नें कहा गया है कि ब्रह्म चलता है और ब्रह्म नहीं चलता है। ब्रह्म दूर है और ब्रह्म समीप है। साधारण दृष्टि से यहां विरोध प्रतीत होता है किन्तु यहां विरोध नहीं है अपितु विरोधाभास अलंकार है। जिसका सुन्दर परिहार ऋषि ने भाष्य में दर्शाया है।

—:•:—

यस्त्वित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथेश्वरविषयमाह॥

अब ईश्वर विषय को कहते हैं॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥६॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्याः!] (यः) [विद्वान् जनः] (आत्मन्) परमात्मनि (एव) (सर्वाणि) अखिलानि (भूतानि) प्राण्यप्राणिरूपाणि (अनुपश्यति) [विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं] समीक्षते।

भाषार्थ

हे मनुष्यो। (यः) जो विद्वान् जन (आत्मान्) परमात्मा में ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) जड़ चेतनों को (अनुपश्यति) विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास के पश्चात् देखता है।

(यः) (तु) पुनरर्थे (सर्वभूतेषु) सर्वेषु प्रकृत्यादिषु (आत्मानम्) अतति सर्वत्र व्याप्नोति तम् (च) [समीक्षते] [सः] (ततः) तदनन्तरम् (न) (वि) (चिकित्सति) संशयं प्राप्नोति [इति यूयं विजानीत] ॥६॥

(तु) और जो(सर्वभूतेषु)सब प्रकृत्यादि पदार्थों में (आत्मानम्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा को देखता है वह (ततः) ऐसे सम्यग्दर्शन के पीछे (वि चिकित्सति) सर्वथा सन्देह को प्राप्त (न) नहीं होता, ऐसा तुम जानो ॥६॥

भावार्थः

भावार्थ

(यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु— पश्यति)

हे मनुष्या ! ये सर्व व्यापिनं व्यायकारिणं सर्वज्ञं सनातनं सकलस्य द्रष्टारं परमात्मानं विदित्वा ।

हे मनुष्यो ! जो लोग सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सबके द्रष्टा परमात्मा को जानकर ।

(सर्वभूतेषु चात्मानम्)

सुखदुःखहानिलाभेषु स्वात्मवत् सर्वाणि भूतानि विज्ञाय ।

सुख, दुःख, हानि, लाभों में अपने आत्मा के समान सब प्राणियों को समझ कर व्यवहार करते हैं ।

(ततो न विचिकित्सति)

धार्मिका जायन्ते त एव मोक्षमश्नुवते ॥ ६ ॥

वे धार्मिक कहलाते हैं, और वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

ऋषि ने 'संस्कारविधि' (संन्यासाश्रमप्रकरण) में संन्यासी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए इस मन्त्र को उद्धृत किया है। वहां इस मन्त्र के आधार पर सर्वत्र परमात्मा का दर्शन एवं सब प्राणियों के साथ आत्मीयता का व्यवहार आदि उदात्त भावनायें संन्यास धर्म के लिये आवश्यक बतलाई गई हैं । अतः ऋषि ने इस मन्त्र का संन्यास धर्म में सुन्दर नियोग किया है ।

भाष्यनिष्कर्ष

सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा धर्म का पालन तथा सम्यग्दर्शन से सन्देह निवृत्ति ॥

जो मनुष्य विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास के द्वारा ईश्वर को सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा जानते और देखते हैं, एवं सब प्राणियों के साथ अपने

आत्मा के समान व्यवहार करते हैं वे धार्मिक कहाते हैं और वे ही ईश्वर को प्राप्त करते हैं। अहिंसा धर्म के पालन और ईश्वर के सम्यग्दर्शन से आत्मा निर्मल हो जाता है जिससे सब सन्देह सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

आत्मन्

आत्मन्=परमात्मनि अर्थात् परमात्मा में। यहां आत्मन् शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का लुक् समझना चाहिए।

आत्मा

आत्मा शब्द जीवात्मा अर्थ में प्रसिद्ध है किन्तु भाष्य में ऋषि ने इसे जीवात्मा और परमात्मा दोनों अर्थों में ग्रहण किया है। ऋषि ने उणादि (४।१५३) में आत्मा का निर्वचन किया है--अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति, व्याप्नोति वा स आत्मा। यहां निरन्तर कर्मफल प्राप्ति से जीवात्मा तथा निरन्तर व्याप्ति से परमात्मा अर्थ दर्शाया है।

विचिकित्सति

वि पूर्वक चिकित्स धातु सन्देह अर्थ में प्रयुक्त होता है।

—:०:—

यस्मिन्नित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथ केऽविद्यादि दोषान् जहतीत्याह॥

अब कौन अविद्या आदि दोषों को त्यागते हैं. इस विषय को कहते हैं॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या!] (यस्मिन्) परमात्मनि, ज्ञाने, विज्ञाने, धर्मे वा (विजानतः) (विशेषेण समीक्षमाणस्य) सर्वाणि) (भूतानि) (आत्मा) आत्मवत् (एव) (अभूत्)* भवन्ति (तत्र) तस्मिन्।

भाषार्थ

हे मनुष्यो! (यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान अथवा धर्म के विषय में (विजानतः) सम्यग्ज्ञाता जन के लिये (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (आत्मा) अपने आत्मा के समान (एव) ही (अभूत्) होते हैं।

१—अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम्।

परमात्मनि [स्थितस्य] (एकत्वम्) परमात्मनोऽद्वितीयत्वम् (अनुपश्यतः) अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद् द्रष्टुः योगिनः (कः) (मोहः) मूढ़ावस्था (अभूत्) (कः) (शोकः) परितापः [च]।

(तत्र) उस परमात्मा में विराजमान (एकत्वम्) परमात्मा के एकत्व को (अनुपश्यतः) ठीक ठीक योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् देखने वाले योगी जन को (कः) क्या (मोहः) मोह और (कः) क्या (शोकः) क्लेश (अभूत्) होता है।

भावार्थः

भावार्थ

(यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः)।

ये विद्वांसः संन्यासिनः परमात्मना सहचरितानि प्राणिजातानि स्वात्मवद् विजानन्ति यथा स्वात्मनो हितमिच्छन्ति तथैव तेषु वर्त्तन्त।

जो विद्वान् संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणिमात्र को अपने आत्मा के समान समझते हैं अर्थात् जैसे अपना हित चाहते हैं वैसे अन्य प्राणियों के साथ बर्ताव करते हैं।

(एकत्वमनुपश्यतः, तत्र को मोहः कः शोकः)

एकमेवाद्वितीयं परमात्मनः शरणमुपागताः सन्ति तान् मोह-शोक-लोभादयो दोषाः कदाचिन्नाप्नुवन्ति।

वे एक (अद्वितीय) परमात्मा की शरण को प्राप्त हैं। उनको मोह, शोक, लोभ आदि दोष कभी भी प्राप्त नहीं होते।

तात्पर्यम्:

ये च स्वात्मानं यथावद्विज्ञाय परमात्मानं विदन्ति ते सदा सुखिनो भवन्ति ॥७॥

इस प्रकार जो अपने आत्मा को ठीक-ठीक जानकर परमात्मा को जानते हैं वे सदा सुखी रहते हैं ॥७॥

ऋषि ने संस्कारविधि (संन्यासाश्रमप्रकरण) में संन्यासी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उल्लेख करते हुये इस मन्त्र को उद्धृत किया है। यहां वेदभाष्य में भी संन्यासी के कर्त्तव्यों का वर्णन किया है।

भाष्यनिष्कर्ष

सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा धर्म का पालन और उससे मोह शोकादि का त्याग

ब्रह्म को सर्वव्यापक जानकर अहिंसा धर्म का पालन करने वाले, अपने आत्मा के समान सब प्राणियों के साथ व्यवहार करने वाले, योगाभ्यासी, विद्वान्, संन्यासी को हो ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। जिससे मोह शोक आदि दोष निवृत्त हो जाते हैं। सर्वत्र अहिंसा धर्म के पालन से आत्मा का यथावत् ज्ञान हो जाता है तत्पश्चात् निर्मल आत्मा में परमात्मा प्रकाशित होता है जिससे सब अविद्या का नाश होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है।

अभूत्

ऋषि ने इस पद की सिद्धि में लिखा है—'वचनव्यत्ययेनैकवचनम्'। अर्थात् वचन-व्यत्यय से बहुवचन के प्रयोग में एकवचन प्रयुक्त हुआ है। 'व्यत्ययो बहुलम्' (अष्टा० ३।१) इस पाणिनीय सूत्र से वेद में सुपादि का व्यतिक्रम स्वीकृत किया गया है।

अभूत लुङ्लकार का प्रयोग है। किन्तु 'छन्दसि लुङ्लिङ्लिटः (अष्टा० ३।४) इस पाणिनीय सूत्र से लुङ्लकार तीनों कालों में प्रयुक्त होता है। अतः ऋषि ने 'अभूत' पद का अर्थ किया है—भवन्ति।

—:०:—

स पर्यगादित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। स्वराज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः परमेश्वराः कीदृश इत्याह॥

परमेश्वर कैसा है अब इस विषय को कहते हैं॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

[हे मनुष्या! यद् ब्रह्म] (शुक्रम्) आशुकरं सर्वशक्तिमत् (अकायम्) स्थूल-सूक्ष्म कारणशरीररहितम् (अव्रणम्) अच्छिद्रमच्छेद्यम (अस्नाविरम्) नाड्यादि सम्बन्ध बन्ध रहितम (शुद्धम्) अविद्यादि दोषरहितत्वात् सदा पवित्रम (अपापविद्धम्) यत् पापयुक्त पापकारि पापप्रियं कदाचिन्नभवति तत् (परि) सर्वतः (अगात्) व्याप्तोऽस्ति

हे मनुष्यो। जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्र-कारी, सर्वशक्तिमान् (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है। (अव्रणम्) छिद्ररहित एवं जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है (शुद्धम्) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र है (अपापविद्धम्) जो कभी भी पाप से युक्त, पाप करने वाला और पाप से प्रेम करने वाला नहीं है वह (परि) सर्वत्र (अगात्) व्यापक है।

य:(कवि:) सर्वज्ञ: (मनीषी) सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता (परिभू:) य: दुष्टान् पापिन: परिभवति तिरस्करोति स । (स्वयम्भू:) अनादिस्वरूपो, यस्य संयोगेनोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो, मातापितरौ, गर्भवासो, जन्म, वृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते ।

. (स:) परमात्मा (शाश्वतीभ्य:) सनातनीभ्योऽनादिस्वरूपाभ्य: स्वस्वरूपेणोत्पत्ति विनाशरहिताभ्य: । (समाभ्य:) प्रजाभ्य: (याथातथ्यत:) यथार्थतया (अर्थात् वेद द्वारा सर्वान् पदार्थान् (वि) विशेषेण (अदधात्) विधत्तते स एव युष्माभिरुपासनीय:] ॥८॥

भावार्थ:

(स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर शुद्धमपापाविद्धम् । कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भू:)

हे मनुष्या ! यद्यनन्तशक्तिमद्, अजं, निरन्तरं, सदामुक्तं न्यायकारि, निर्मलं, सर्वज्ञं, सर्वस्य साक्षि, नियन्तृ अनादिस्वरूपं ब्रह्म ,

(शाश्वतीभ्य: सामाभ्य:याथार्थ्यतोऽर्थान् व्यद्धात्)

कल्पादौ जोवेभ्य: स्वोक्तर्वेदै: शब्दार्थ सम्बन्धविज्ञापिकां विद्यां नोपदिशेत् तर्हि–

फलमाह–

कोऽपि विद्वान् न भवेत् न च धर्मार्थकाममोक्षफलं प्राप्तुं शक्नुयात्

जो (कवि:) सर्वज्ञ (मनीषी) सब जीवों की मनोवृत्ति को जानने वाला (परिभू:) जो दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला (स्वयम्भू:) अनादि स्वरूप वाला, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता जिसके माता पिता कोई नहीं और जिसका गर्भवास, जन्म, वृद्धि, और क्षय नहीं होते हैं ।

वह परमात्मा (शाश्वतीभ्य:) सनातन अनादि स्वरूप वाली अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश से रहित (समाभ्य:) प्रजा के लिए (याथातथ्यत:) यथार्थता से (अर्थात्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (वि) अच्छी तरह से (अदधात्) उपदेश करता है (स:) वह परमात्मा ही तुम्हारे लिए उपासना करने योग्य है ।८॥

भावार्थ

हे मनुष्यो ! जो ब्रह्म अनन्त शक्तिशाली अजन्मा, अखण्ड, सदा से युक्त, न्यायकारी पाप रहित, सर्वज्ञ सब का द्रष्टा, नियन्ता और अनादि स्वरूप वाला है

यदि वह सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयं प्रोक्त वेदों के द्वारा शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को बतलाने वाली विद्या का उपदेश न करे तो—

कोई भी विद्वान् न बन सके और न धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर सके

शिक्षा—

तस्मादिदमेव सदैवोपाध्वम् ॥८॥	इसलिए इसी ब्रह्म की उपासना सदा करनी चाहिए ॥८॥

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश (सप्तमसमुल्लास) में भी किया है । वहां इस मन्त्र के आधार पर परमेश्वर की सगुण स्तुति और निर्गुण स्तुति विषय को समझाया गया है । इस मन्त्र में 'शुक्रम्' आदि सगुणस्तुति और 'अकायम्' आदि निर्गुण स्तुति के उदाहरण विद्यमान हैं ।

इस मन्त्र के व्याख्यान में वहां इतना विशेष लिखा है—"जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है ।"

आगे चलकर सप्तम समुल्लास में ही 'स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' मन्त्र का इतना अंश परमात्मा प्रजा के कल्याण के लिये वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है इसकी सिद्धि में उद्धृत किया है । सत्यार्थप्रकाश (एकादशसमुल्लास) में इस मन्त्र में आये 'अकायम्' पद के प्रमाण से अवतारवाद का भी खण्डन किवा गया है ।

ऋषि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में तीन स्थलों (१-वेदनित्यत्वविषय २-उपासना-विषय ३-ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय) पर मन्त्र की व्याख्या की है । 'वेदनित्यत्वविषय' में निम्न पदों का अर्थ विशेष किया है—शुक्रम्=सब जगत् का कर्ता । अव्रणम्=परमाणु भी उसमें छेद नहीं कर सकता । ३-परिभूः=सब के ऊपर विराजमान । परमात्मा सब प्रजा के हित के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों का उपदेश करता है अतः वेद परमात्मा का ज्ञान होने से नित्य है । इस युक्ति से वहां वेदों को नित्यता इस मन्त्र के प्रमाण से सिद्ध की गई है "ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय" में इस मन्त्र में आये 'अकायम्' पद ा 'मूर्तियां सब प्रकार के शरीर से रहित' ऐसा अर्थ दर्शा कर मूर्तिपूजा का खण्डन तथा परमात्मा की उपासना का विधान किया है ।

ऋषि ने 'आर्याभिविनय' में भी इस मन्त्र का व्याख्यान किया है । जिसमें निम्न पदों का अर्थ विशेष दर्शाया है —१-अस्नाविरम्=अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आ.रण नहीं हो सकता । २-कविः=त्रैकालज्ञः ३—मनीषी=सब के मन का दमन करने वाला । वहां इतना और भी विशेष लिखा है कि—वेद पुस्तक ही ईश्वरकृत है अन्य नहीं । इसमें युक्ति यह दी है कि जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है वैसा ही वेद-पुस्तक भी है ।

भाष्यनिष्कर्ष

जन्मादिदोषों से रहित ईश्वर वेदविद्या का उपदेश करता है ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा सदामुक्त, न्यायकारी, स्वयम्भु, अनादि, अजन्मा अखण्ड नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, अविद्यादिदोष एव पाप से सदा दूर है । वह परमात्मा अपनी प्रजा के कल्याण के लिए वेद द्वारा सब पदार्थों का अच्छे प्रकार उपदेश करता है

शुक्रम्

ऋषि ने इस पद से तीन अर्थ ग्रहण किये हैं—१-शीघ्रकारी २—सर्वशक्तिमान् भाष्य०) ३—जगत् कर्त्ता (ऋग्वेदादि०)

आशुकरम्=शुकरम्=शुक्रम् । इस प्रकार निरुक्त पद्धति से शुक्र शब्द का अर्थ आशुकर=शीघ्रकारी किया गया है । शुक्र शब्द बल और वीर्य अर्थ में प्रसिद्ध है । बल के तात्पयार्थ से सर्वशक्तिमान् तथा ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में वीर्य के तात्पयार्थ से जगत् का कर्ता अर्थ शुक्र पद से ग्रहण कर लिया है ।

कविः

ऋषि ने इस पद को दो अर्थों में ग्रहण किया है—१-सर्वज्ञ, २—त्रकालज्ञ (आर्याभिविनय) । ऋषि ने उणादि (४।१४०) में कवि शब्द का निर्वचन किया है-कौति शब्दयत्युपदशति स कविः, मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा । परमात्मा सर्वज्ञ है अतः सब से बड़ा विद्वान् होने से वह कवि । कवि का अर्थ क्रान्तदर्शी भी किया है अतः आर्याभिविनय में किया त्रैकालज्ञ अर्थ भी सुसंगत है ।

मनीषी

ऋषि ने इस पद के दो अर्थ किये हैं—१-सबके मन की वृत्तियों को जानने वाला २-सबके मन का दमन करने वाला । ईष गतिहिंसा दर्शनेषु (भ्वा० आ०) । ईष्+अ+टाप् गुरोश्च हलः (३ । ३ । १०३)=ईषा=गति, हिंसा, दर्शन मनस्+ईषा=मनीषा मनीषा+इनि=मनीषी ईष धातु के गति और दर्शन अर्थ होने से मनीषी शब्द का मन की वृत्तियों को जानने वाला अर्थ सिद्ध होता है । और ईष धातु का हिंसा अर्थ होने से मन का दमन करने वाला अर्थ उत्पन्न होता है ।

परिभूः

ऋषि ने इस पद के भी दो अथ दर्शाये हैं—१-दुष्टों का तिरस्कारक २-सर्वोपरिविराजमान । परिपूर्वक भू धातु तिरस्कार करने अर्थ में प्रयुक्त होती है इससे 'परिभू' पद का दुष्टों का तिरस्कारक अर्थ सिद्ध है । तथा परि उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थ में है । इस प्रकार यौगिक दृष्टि मे परिभू का अर्थ सर्वोपरिविराजमान भी सिद्ध होता है ।

— :o: —

अन्धन्तम इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

के जना अन्धन्तमः प्राप्नुवन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य अन्धकार को प्राप्त होते हैं इस विषय को कहते हैं ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳪं रताः ॥९॥

संस्कृतार्थ

[ये परमेश्वरं विहाय] (असम्भूतिम्) अनादि-अनुत्पन्न प्रकृत्याख्यं सत्त्वरजस्तमोगुणमयं जडं वस्तु (उपासते) उपास्यतया जानन्ति (ते) (अन्धम्) आवरकम् (तमः) अन्धकारम् (प्र) प्रकर्षेण (विशन्ति)

(ये) सम्भूत्याम् महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ (रताः) ये रमन्ते (ते) (उ) वितर्केण सह (ततः) तस्मात् (भूय इव) अधिकमिव (तमः) अविद्यामयमन्धकारम् (प्रविशन्ति) ॥९॥

भावार्थ

जो लोग परमेश्वर को छोड़कर (असम्भूतिम्) अनादि, जिसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती, सत्त्व रज तम गुण रूप प्रकृति नामक जड़ वस्तु को (उपासते) उपासनीय समझते हैं (ते) वे (अन्धम्) ढकने वाले (तमः) अन्धकार में (प्र) अच्छी तरह से (विशन्ति) प्रविष्ट होते हैं।

(ये) जो लोग (सम्भूत्याम्) महत्तत्त्वादि स्वरूप में परिणत हुए सृष्टि में (रताः) रमण करने वाले हैं (ते) वे (उ) निःसन्देह (ततः) उससे (भूय इव) कहीं अधिक (तमः) अविद्यारूपअन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं ॥९॥

भावार्थः

(येऽसम्भूतिमुपासते अन्धन्तम प्रविशन्ति)।

ये जनाः सकलजडजगतोऽनादि नित्यं कारणमुपास्यता स्वीकुर्वन्ति ते ऽविद्या प्राप्य सदा क्लिश्यन्ति।

(य उ सम्भूत्याᳪं रताः, ततो भूय इव ते तमो)

ये च तस्मात्कारणादुत्पन्नं पृथिव्यादि-स्थूलं सूक्ष्मं कार्यकारणाख्यमनित्यं संयोगजन्य

भावार्थ

जो लोग सारे जड़ जगत् के अन्य नित्य कारण प्रकृति को उपास्य देव जानते हैं वे अविद्या को प्राप्त करके सदा दुःखी रहते हैं।

और जो उस कारण भूत प्रकृति से युक्त हुये पृथिव्यादि स्थूल, कार्य कारण

कार्यं जगदिष्टमुपास्यं मन्यन्ते ते गाढाम-विद्यां प्राप्याधिकतरं क्लिश्यन्ति ।

रूप सूक्ष्म वा अनित्य वा संयोग से उत्पन्न कार्य जगत् को अपना इष्ट उपास्य मानते हैं वे गाढ़ अविद्या को प्राप्त होकर उससे अधिक दुःखी रहते हैं ।

उपास्यमाह--

तस्मात्सच्चिदानन्द स्वरूपं परमात्मा-नमेव सर्वे सदोपासीरन् ॥ ६ ॥

इसलिए सत् चित् आनन्द स्वरूप परमात्मा की ही सबको सदा उपासना करनी चाहिये ॥६॥

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश (एकादशसमुल्लास) में भी किया है। वहां इस मन्त्र के प्रमाण से मूर्ति-पूजा का खण्डन तथा परमेश्वर को ही पूजनीय बतलाया है। यहां वेदभाष्य में भी जो परमेश्वर के स्थान में अन्य की उपासना करते हैं उनकी निन्दा की गई है तथा परमात्मा की उपासना का विधान किया है।

भाष्यनिष्कर्ष

कार्यकारण स्वरूप जड़ का उपासना का निषेध ॥

कारण रूप प्रकृति के उपासक अविद्या को प्राप्त होके सदा दुःखी रहते हैं तथा कार्य जगत् के उपासक उससे भी अधिक दुःखी रहते हैं। अतः सच्चिदानन्दस्वरूप उपास्य परमात्मा के स्थान में मूर्तिपूजा एवं अन्य किसी की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये।

असम्भूतिः । सम्भूतिः ॥

सम्+भू+क्तिन+सु=सम्भूतिः। सम् उपसर्ग पूवक भू धातु उत्पत्ति अर्थ में प्रयुक्त होती है। सम्भूति का प्रतिषेध=असम्भूति। इस प्रकार असम्भूति का अर्थ उत्पन्न न होने वाली प्रकृति सिद्ध होता है। सम्भूति का अर्थ उत्पत्ति है। प्रकृति से होने वाला सर्वप्रथम विकार महत् है। अतः ऋषि ने सम्भूति का अर्थ महदादि स्वरूप में परिणत सृष्टि किया है।

— :o: —

अन्यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें इस विषय को कहते हैं ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ।।१०।।

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या ! यथा वयम्] (धीराणाम्) मेधाविनां विदुषां योगिनां [सकाशाद् वचः] (शुश्रुमः) शृणुमः (ये) (नः) अस्मान् प्रति (तत्) तयोर्विवेचनम् (विचचक्षिरे) व्याचक्षरे ।

[ते] (संम्भवात्) संयोगजन्यात् कार्यात् (अन्यत्) कार्यफलं वा (एव) (आहुः) कथयन्ति (असम्भवात्) अनुत्पन्नात्कारणात् (अन्यत्) भिन्नम् (आहुः) कथयन्ति (इति) अनेन प्रकारेण [यूयमपि शृणुत] ॥ १० ॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! जैसे हम ने (धीराणाम्) मेधावी विद्वान योगी जनों के वचन (उपदेश) (शुश्रुमः) सुने हैं (ये) जिन्होंने (नः) हमें (तत्) उस सम्भूति और असम्भूति दोनों का विवेचन (विचचक्षिरे) व्याख्या पूर्वक समझाया है ।

वे योगी जन (सम्भवात्) सयोग से उत्पन्न कार्य से (अन्यत् एव) और ही कार्य का फल (आहुः) बतलाते हैं तथा (असम्भवात् उत्पन्न न होने वाले कारण से (अन्यत्) भिन्न (आहुः) बतलाते हैं । (इति) इस प्रकार तुम भी सुनो ।।१०।।

भावार्थः

(अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहु-रसम्भवात्)

हे मनुष्या ! यथा विद्वासः कार्यत्कारणाद् वस्तुनो भिन्न भिन्न वक्ष्यमाणमुपकारं गृह्णन्ति ग्राहयन्ति

(धीराणां शुश्रुम, येनस्तद् विचचक्षिरे इति) ।

तद्गुणान् विज्ञाय विज्ञापयन्ति, एवमेव यूयमपि निश्चिनुत ।।१०।।

भावार्थ

हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग कार्य-वस्तु और कारण वस्तु से आगे कहे जाने वाले भिन्न भिन्न उपकार स्वयं ग्रहण करते हैं तथा औरों को भी ग्रहण करवाते हैं तथा—

उन कार्य कारण के गुणों को जानकर अन्यों को समझाते हैं इसी प्रकार तुम भी निश्चय करो ।। १० ।।

भाष्यनिष्कर्ष

कार्य कारण से क्या करें ?

विद्वान् कार्य के गुणों को जानकर अगले मन्त्र में उपदिश्यमान भिन्न भिन्न उपकारों को स्वयं ग्रहण करते हैं तथा अन्यों को भी ग्रहण कराते हैं ।

—:o:—

सम्भूतिमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः कार्यकारणाभ्यां किं किं साधनीयमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को कार्य और कारण से क्या क्या सिद्ध करना चाहिये इस विषय को कहते हैं ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या !] (यः) [विद्वान्] (सम्भूतिम्) सम्भवन्ति यस्यां तां कार्याख्यां सृष्टिम् (च) तस्या गुणकर्मस्वभावान् (विनाशम्) विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् (च) तद्गुणकर्मस्वभावान् (सह) (उभयम्) कार्यकारणस्वरूपं जगत् (तत्) (वेद) जानाति—

[सः] (विनाशेन) नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह (मृत्युम्) शरीर वियोगजन्यं दुःखम् (तीर्त्वा) उल्लङ्घ्य (सम्भूत्या) शरीरेन्द्रियान्तःकरणरूपया उत्पन्नया कार्यरूपया धर्म्ये प्रवर्त्तयित्र्या सृष्टया सह (अमृतम्) मोक्षम् (अश्नुते) प्राप्नोति ॥ ११ ॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिसमें पदार्थ उत्पन्न होते हैं उस कार्य रूप सृष्टि को (च) और सृष्टि के गुण कर्म स्वभाव को एवं (विनाशम्) जिसमें पदार्थ विनष्ट=अदृश्य हो जाते हैं उस कारण रूप प्रकृति को तथा (च) उसके गुण कर्म स्वभाव को (सह) एक साथ (उभयम्) (तत्) कार्य कारण रूप जगत् को (वेद) जानता है—

वह (विनाशेन) नित्य स्वरूप को समझने के कारण (मृत्युम्) शरीर और आत्मा के वियोग से उत्पन्न दुःख को (तीर्त्वा) पार करके (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय अन्त करण रूप उत्पन्न होने वाली कार्य-रूप धर्म कार्य में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के सहयोग से (अमृतम्) मोक्ष सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥११॥

(सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह)

हे मनुष्याः ! कार्यकारणाख्ये वस्तुनी निरर्थके न स्तः, किन्तु कार्यकारणयोर्गुणकर्मस्वभावान् विदित्वा—

हे मनुष्यो ! कार्य (सृष्टि) कारण (प्रकृति) नामक वस्तुयें निरर्थक नहीं हैं किन्तु कार्य, कारण इन दोनों के गुण कर्म स्वभाव को जानकर—

(विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते) ।

धर्मादिमोक्षसाधनेषु संप्रयोज्य स्वात्मकार्यकारणयोर्विज्ञानेन नित्यत्वेन मृत्युभयं त्यक्त्वा मोक्षसिद्धिं सम्पादयत ।

इनका धर्मादि मोक्ष के साधनों में उपयोग करके, अपने स्वरूप से कार्य और कारण की नित्यता के विज्ञान से मृत्यु के भय को हटा कर मोक्ष की सिद्धि करो ।

फलनिष्पत्तिमाह—

इति कार्यकारणाभ्यामन्यदेव फलं निष्पादनीयमिति ।

इस प्रकार कार्य (सृष्टि) कारण (प्रकृति) के द्वारा यह मोक्षसिद्धिरूप फल प्राप्त करना चाहिये ।

निषेधमाह—

अनयोर्निषेधो हि परमेश्वरस्थान उपासनाप्रकरणे वेदितव्यः ॥११॥

उपासना के प्रकरण में परमेश्वर के स्थान में कार्य (सृष्टि) कारण (प्रकृति) की उपासना करने का निषेध समझना चाहिये ॥११॥

भाष्यनिष्कर्ष

कार्य कारण के ज्ञान से मृत्यु को हटाकर मोक्ष सिद्धि का उपदेश ।

जो मनुष्य कार्य और कारण इन दोनों के गुण, कर्म और स्वभाव को साथ-साथ जानता है वह कारण (प्रकृति) के ज्ञान से मृत्यु दुःख को और कार्य (शरीरादि) का मोक्ष साधन रूप में उपयोग करके अमृत को प्राप्त करता है ।

विनाश

यहां विनाश पद सम्भूति के पक्ष में विशिष्ट अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है । जिसमें यह तात्पर्यार्थ निहित है कि उस वर्तमान सृष्टि की अवधि-समाप्ति पर सब पदार्थ विनाश को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् प्रलय हो जाता है । सब पदार्थ अपने आदिकारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं, इसी को विनाश कहा गया है । अतः ऋषि ने विनाश पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—"विनश्यन्त्यदृश्या भवन्ति पदार्था यस्मिन्" । इस प्रकार यहां अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय करके विनाश शब्द का यौगिक अर्थ प्रकृति किया गया है । यहां सम्भूति शब्द सृष्टि और विनाश शब्द प्रकृति का वाचक है ।

—:०:—

अन्धन्तम इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथ विद्याऽविद्योपासनाफलमाह॥

अब विद्या और अविद्या की उपासना का फल कहते हैं॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬरताः॥ १२॥

संस्कृतार्थः

(ये) [मनुष्याः] (अविद्याम्) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद् भिन्नम् (उपासते) अभ्यस्यन्ति (ते) (अन्धम्) दृष्ट्यावरकम् (तमः) गाढमज्ञानम् (प्र) (विशन्ति)।

(ये) [पण्डितंमन्यमानाः] (विद्यायाम्) शब्दार्थसम्बन्ध विज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे (रताः) रममाणाः (ते) (उ) (ततः) (भूय इय) अधिकमिव (तमः) अज्ञानम् (प्रविशन्ति)॥१२॥

भाषार्थ

(ये) जो मनुष्य, (अविद्याम्) अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा जानना अविद्या है, अतः ज्ञानादि गुणों से रहित कार्य कारण रूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (अन्धम्) ज्ञान दृष्टि को ढकने वाले (तमः) गाढ़ अज्ञान में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं।

(ये) और जो अपने आपको पण्डित मानने वाले (विद्यायाम्) शब्द अर्थ और सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण में (रताः) रमण करते हैं (ते) वे (उ) निश्चय ही (ततः) उससे (भूयः इव) कहीं अधिक (तमः) अज्ञान में प्रविष्ट होते हैं॥१२॥

भावार्थः

अत्रोपमालङ्कारः। यद्यच्चेतनं ज्ञानादिगुणयुक्तं वस्तु तज्ज्ञातृ, यदविद्यारूपं तज्ज्ञेयं, यच्च चेतनं ब्रह्म विद्वदात्मस्वरूपं वा तदुपासनीयं सेवनीयं च।

यदतो भिन्नंतन्नोपासनीयं किन्तूपकर्त्तव्यम्।

भावार्थ

यहां उपमा अलङ्कार है। जो जो ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन वस्तु है वह ज्ञाता, और जो अविद्या रूप है वह ज्ञेय कहलाता है। और जो चेतन ब्रह्म अथवा आत्मा है उसी की उपासना और सेवा करनी चाहिये।

और इससे भिन्न है उसकी उपासना नहीं करनी चाहिये किन्तु उससे उपकार ग्रहण करना चाहिये।

(येऽविद्यामुपासते, अन्धन्तमः प्रविशन्ति)

ये मनुष्या अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशैः क्लेशैर्युक्तास्ते परमेश्वरं विहायातो भिन्नं जडं वस्तूपास्य महति दुःखसागरे निमज्जन्ति ।

जो मनुष्य अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से युक्त हैं वे परमेश्वर को छोड़कर इससे भिन्न जड वस्तु की उपासना करके महान् दुःख सागर में डूबते हैं ।

(य ऽ उ विद्यायाꣳरताः, ततो भूय इव त तमो)

ये च शब्दार्थान्वयमात्रं संस्कृतमधीत्य सत्यभाषणपक्षपातरहित न्यायाचरणाख्यं धर्मं नाचरन्त्यभिमानारूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्या विद्यामेव मन्यन्ते ते चाधिकतमसि दुःखार्णवे सततं पीडिता जायन्ते ॥१२॥

और जो शब्द, अर्थ, सम्बन्ध मात्र, संस्कृत भाषा पढ़कर सत्यभाषण पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म का आचरण नहीं करते अपितु अभिमानी होकर विद्या का अपमान करके अविद्या का मान करते हैं वे अत्यन्त अज्ञान रूप दुःख सागर में पड़े सदा दुःखी रहते हैं । १२॥

भाष्यनिष्कर्ष

जड़ की उपासना का निषेध तथा चेतन की उपासना का विधान ॥

अविद्यादि पांच क्लेशों से युक्त मनुष्य जड़ वस्तु की उपासना करके गाढ़ अज्ञान अर्थात् महान् दुःखसागर में डूबते हैं । अतः जड़ वस्तु की उपासना नहीं करनी चाहिये किन्तु उनसे उपकार ग्रहण करना चाहिये ।

जो मनुष्य शब्द, अर्थ, सम्बन्ध मात्र सस्कृत भाषा पढ़कर धर्म का आचरण नहीं करते अपितु अभिमानी होकर विद्या का अपमान और अविद्या का मान अर्थात् विद्या के विपरीत आचरण करते हैं वे विद्यारत अविद्योपासकों से भी अधिक अज्ञान रूप दुःखसागर में पड़े सदा दुःखी रहते हैं ।

अविद्या

ऋषि ने यहां भाष्य में अविद्या पद का अर्थ जड़ किया है और समझाया है कि यह जड़ जगत् अनित्य है, अपवित्र है, दुःखदायक है और अचेतन है इसको नित्य पवित्र, सुखदायक और चेतन समझकर इसकी उपासना करना अविद्या है । इसी बात की पुष्टि में 'अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' यह योगशास्त्र का अविद्यालक्षण उद्धृत किया है । उपासनीय तो परमेश्वर है जो नित्य, पवित्र, आनन्दप्रदाता और चेतन है ।

अत्रोपमालङ्कारः

यहाँ वेदमन्त्र में 'इव' शब्द पूर्ण उपमालङ्कार का प्रकाशक है। विद्यारतों का और अविद्योपासकों का परस्पर उपमान उपमेय भाव है। गाढ़ अन्धकार में प्रवेश उपमा (सादृश्य) है। जैसे विद्यारत अत्यन्त गाढ़ अन्धकार में पड़े रहते हैं वैसे अविद्योपासक भी गाढ़ अन्धकार में पड़े रहते हैं।

—०:—

अन्यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्द। गान्धारः स्वरः ॥

अथ जडचेतनयोर्विभागमाह ॥

अब जड़ और चेतन का भेद कहते हैं ॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१३॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या! ये विद्वांसो] (नः) अस्मभ्यम् (विचचक्षिरे) व्याख्यातवन्तः (विद्यायाः) पूर्वोक्तायाः (अन्यत्) अन्यदेवकार्यं फलं वा (एव) (आहुः) कथयन्ति।

(अविद्यायाः) पूर्वमन्त्रेण प्रतिपादितायाः (अन्यत्) (आहुः) (इति) [तेषां] (धीराणाम्) आत्मज्ञानं विदुषां [सकाशात्] (तत्) [वचः] वयं (शुश्रुम) श्रुतवन्त [इति विजानीत] ॥१३॥

भावार्थः

हे मनुष्यो! जो विद्वान् लोग (नः) हमारे लिये (विचचक्षिरे) बतला गये हैं कि (विद्यायाः) पूर्वमन्त्र में कही विद्या का (अन्यत्) और ही कार्य वा फल होता है ऐसा (कथयन्ति) कहते हैं।

(अविद्यायाः) पूर्वमन्त्र में प्रतिपादित अविद्या का (अन्यत् और ही फल होता है ऐसा उन (धीराणाम्) आत्मज्ञानी विद्वानों के पास से (तत्) उपदेश हमने (शुश्रुम) सुना है ऐसा तुम जानो ॥१३॥

भावार्थः

(अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः)

ज्ञानादिगुणयुक्तस्य चेतनस्य सकाशाद् य उपयोगो भवितुं से योग्यो न स अज्ञानयुक्तस्य जडस्य सकाशात्। यच्च जड़ात् प्रयोजनं सिध्यति न तच्चेतनात्।

भावार्थ

ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन से जो उपयोग लिया जा सकता है वह अज्ञान युक्त जड़ वस्तु से नहीं। और जो जड़ वस्तु से प्रयोजन सिद्ध होता है वह चेतन से नहीं हो सकता।

(इति शश्रुम धीराणां ये न-स्तद् विचचक्षिरे)

इति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्वत्सङ्गेन विज्ञानेन योगेन धर्माचरणेन चानयोर्विवेकं कृत्वा—

ऐसा सब मनुष्यों को विद्वानों के सङ्ग, विज्ञान, योग और धर्माचरण से विवेचन करके—

कर्त्तव्यमाह—

उभयोरुपयोगः कर्त्तव्यः ।

जड़ और चेतन दोनों का ठीक ठीक उपयोग करना चहिये ।

भाष्यनिष्कर्ष

जड़ और चेतन के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक ।।

सब मनुष्यों को विद्वानों का संग, विज्ञान, योग और धर्माचरण से जड़ और चेतन वस्तु का विवेक करना चाहिये । और उनसे अगले मन्त्र में उपदिश्यमान उपयोग ग्रहण करना चाहिये ।

—:०:—

विद्यामित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । स्वराडुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

फिर उसी विषय को कहते हैं ।।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳसह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।१४।।

संस्कृतार्थः

(यः) [विद्वान्] (विद्याम्) पूर्वोक्ताम् (च) तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् (अविद्याम्) प्रतिपादितपूर्वाम् (च) एतदुपयोगिसाधनकलापम् (तत्) (उभयम्) (सह) (वेद) विजानीते [सः] (अविद्यया) शरीरादिजडेन पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन (मृत्युम्) मरणदुःखभयम् (तीर्त्वा) उल्लङ्घ्य (विद्यया) आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोग धर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन (अमृतम्) नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा (अश्नुते) ।।१४।।

भाषार्थ

यः जो विद्वान् (विद्याम्) पूर्वमन्त्र में कही विद्या (च) और उसके साधन को उपसाधनों तथा (अविद्याम्) पूर्व प्रतिपादित अविद्या (च) और उसके उपयोगी नाना साधन (तत्, उभयम् सह) उन दोनों को साथ (वेद) जानता है (स) वह (अविद्यया) शरीर आदि जड़ पदार्थों के द्वारा किये पुरुषार्थ से (मृत्युम्) प्राण त्याग में होने वाले दुःख के भय को (तीर्त्वा, पार करके (विद्यया) आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से (अमृतम) अविनाशी अपने आत्मा के स्वरूप को अथवा परमात्मा को (अश्नुते) प्राप्त करता है । ।।१४।।

भावार्थः

(विद्यां चाविद्यां च यस्तद्-वेदोभयꣳसह)

ये मनुष्या विद्याऽविद्ये स्वरूपतो विज्ञायानयोर्जडचेतनौ साधकौ वर्तेत इति निश्चित्य सर्वं शरीरादिजडं चेतनमात्मानं च धर्मार्थकाममोक्षसिद्धये सहैव सम्प्रयुञ्जते

(अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुते)।

ते लौकिकं दुःखं विहाय पारमार्थिकं सुखं प्राप्नुवन्ति।

विद्याऽविद्याऽभावेस्थितिमाह—

यदि जडं प्रकृत्यादिकारणं शरीरादि-कार्यं वा न स्यात्तर्हि परमेश्वरो जगदुत्पत्तिं, जीवः कर्मोपासने ज्ञानं च कर्तुं कथं शक्नुयात्।

तस्मान्न केवलेन जड़ेन न च केवलेन चेतनेनाथवा न केवलेन कर्मणा न केवलेन ज्ञानेन कश्चिदपि धर्मादिसिद्धिं कर्तुं समर्थो भवति ॥१४॥

भावार्थ

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानकर और इनके जड़ और चेतन पदार्थ साधक हैं ऐसा निश्चय करके शरीर आदि जड़ और चेतन आत्मा का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये एक साथ ही प्रयोग करते हैं—

वे लोग लौकिक दुःख से छूट कर पारमार्थिक सुख (मुक्ति) को प्राप्त होते हैं।

यदि जड़ (अविद्या) प्रकृति आदि कारण वस्तु अथवा शरीर आदि कार्य वस्तु न हो तो परमात्मा जगत् की उत्पत्ति तथा जीव कर्म, उपासना और ज्ञान प्राप्ति कैसे कर सके।

इसलिये न केवल जड़ (अविद्या) के द्वारा और न केवल चेतन (विद्या) के द्वारा अथवा न केवल कर्म (अविद्या) के द्वारा और न केवल ज्ञान (विद्या) के द्वारा कोई भी व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता ॥१४॥

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश (नवमसमुल्लास) में भी किया है। वहां अविद्या शब्द का अर्थ कर्मोपासना और विद्या शब्द का अर्थ यथार्थज्ञान किया है। यहां वेदभाष्य में भी ये अर्थ विद्यमान हैं। किन्तु कर्मोपासना और ज्ञान की जो वहां विशेष व्याख्या की है सो इस प्रकार है—"विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं होता अर्थात् पवित्र कर्म पवित्रोपासना और पवित्रज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म पाषाण मूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म उपा-

सना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिये धर्मयुक्त सत्यभाषण आदि कर्म करना और मिथ्याभाषण आदि को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।"

भाष्यनिष्कर्ष

जड़ और चेतन का उपयोग ॥

सब मनुष्यों को उचित है कि अविद्या अर्थात् शरीर आदि जड़ पदार्थों के द्वारा किये पुरुषार्थ अर्थात् कर्म और उपासना से मृत्यु दुःख से पार होना चाहिये। विद्या अर्थात् आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न यथार्थज्ञान द्वारा परमात्मा का दर्शन करके मोक्ष आनन्द को प्राप्त करें।

विद्यां च

ऋषि ने इसका भाष्य किया है—चेतन और उसके साधन उपसाधन। अर्थात् यहां विद्या शब्द का अर्थ चेतन है और मन्त्र में पठित चकार पद से विद्या के साधन उपसाधनों का समुच्चय किया गया है। विद्या अर्थात् आत्मा चेतन हैं। अन्तःकरण आत्मा का साधन है। यथार्थज्ञान उसका उपसाधन है। अतः ऋषि ने इस मन्त्र में 'विद्यया' की व्याख्या में चेतन और उसके साधन उपसाधन सबका समुच्चय करके लिखा है— "विद्यया=आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोगरूप धर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से।"

अविद्यां च

ऋषि ने इसकी व्याख्या की है—जड़ और उसके नाना साधन। अर्थात् यहाँ अविद्या शब्द का अर्थ जड़ है और मन्त्र में पठित चकार पद से उसके उपयोगी नाना साधनों का समुच्चय किया गया है? अविद्या अर्थात् शरीर जड़ है। पुरुषार्थ (कर्म) और उपासना उसके उपयोगी नाना साधन हैं। अतः ऋषि ने इसी मन्त्र में 'अविद्यया' की व्याख्या में जड़ और उसके नाना साधन सबका समुच्चय करके लिखा है–"अविद्यया= शरीर आदि जड पदार्थों से किये गये पुरुषार्थ से"।

मन्त्र में कहा गया है कि विद्या और अविद्या दोनों का सहवेत्ता अविद्यया से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत को प्राप्त होता है। मृत्यु आदि लौकिक दुःखों को पार करने के लिये अविद्या=जड़ शरीर का होना परम आवश्यक है। अतः वेद कहता है— अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा। अमृत अर्थात् परमानन्द का उपभोग चेतन आत्मा से ही होता है। वहां इस जड़ शरीर की आवश्यकता ही नहीं। अतः वेद कहता है—विद्ययाऽमृत-मश्नुते। ऋषि ने भी बड़ा स्पष्ट लिखा है "आत्मा से आनन्द को भोग"।

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश (नवमसमुल्लास) ※ में भी किया है। वहां अविद्या का अर्थ कर्मोपासना और विद्या का अर्थ यथार्थ ज्ञान लिखा है। अविद्या का अर्थ जड़ शरीर है और कर्मोपासना उसका दुःख को तरने का साधन है। अतः वहां कर्मोपासना अर्थ लिखा है। इसी प्रकार विद्या का अर्थ चेतन आत्मा है। यथार्थ ज्ञान अमृत प्राप्ति का साधन है अतः वहाँ यथार्थ ज्ञान अर्थ लिखा है। इस प्रकार वेदभाष्य तथा सत्यार्थप्रकाश में किये मन्त्रार्थ का परस्पर समन्वय है।

※इसी स्थल ऋषि दयानन्द ने लिखा है—

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥
पातं० द० साधनपादे सू० ॥५॥

यह योग सूत्र का वचन है।" सूत्र की व्याख्या करके आगे लिखा—

"वेत्ति यथावत्तात्त्व पदार्थस्वरूपं यथा सा विद्या—
यथातत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यथा साऽविद्या"

जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्यबुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है अर्थात् कर्म उपासना अविद्या इसलिये है कि यह बाह्य और आन्तरक्रिया विशेष है ज्ञान विशेष नहीं।" उपर्युक्त योगदर्शन का सूत्र यजु० ४०-१२ में भी ऋषिभाष्य में दिया गया है। ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में सुस्पष्ट कर दिया कि कर्म बाह्य क्रिया और उपासना आन्तर-क्रिया है ज्ञान विशेष नहीं, अतः कर्म और उपासना ज्ञान=विद्या न होने के कारण अविद्या हैं। योगदर्शन में वर्णित अविद्या का लक्षण कर्म और उपासना पर संगत है, क्योंकि कर्म और उपासना ज्ञान विशेष न होने के कारण विद्या नहीं, अतः अविद्या है, परन्तु ज्ञान के साथ कर्म उपासना का सहचार है। कर्म और उपासना के स्वरूप का परक है। अतः सिद्ध हुआ कि योगदर्शन में वर्णित अविद्या का लक्षण वेद में उपदिष्ट अविद्या=कर्म उपासना पर सुघटित होता है। उपासना को आन्तरक्रिया होने के कारण कर्म होते हुये भी पृथक् बतलाया गया है। जो सज्जन उपासना को ज्ञानरूप समझते हैं, उनको इस स्थल से जान लेना चाहिये कि उपासना भी कर्म का ही आन्तर अंग होने के कारण जड़ है—अविद्या है। —[जगदेवसिंह सिद्धान्ती]

वायुरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता । स्वराडुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथ देहान्ते किं कार्यमित्याह ॥

अब देहान्त के समय क्या करना चाहिये इस विषय को कहते हैं॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳस्मर ॥१५॥

संस्कृतार्थः

[हे] (क्रतो) यः करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ, [त्वं शरीरत्यागसमये] (ओ३म्) एतन्नामवाच्यमीश्वरम् (स्मर) पर्यालोचय। (क्लिबे) स्वसामर्थ्याय [परमात्मानं स्वस्वरूपं च] (स्मर) (कृतम्) यदनुष्ठितम्, तत् (स्मर)।

[अत्रस्थ] (वायुः) धनंजयादिरूपः (अनिलम्) कारणरूपं वायुम् [अनिलः] (अमृतम्) नाशरहितं कारणम्, [धरति]।

(अथ) (इदम्) (शरीरम्) यच्छीर्यते हिंस्यते तद् आश्रयम् (भस्मान्तम्) भस्म अन्ते यस्य तत्, [भवतीति विजानीत] ॥१५॥

भावार्थः

मृत्युसमयः सदा स्मरणीय इत्याह–

मनुष्यैर्यथा मृत्युसमये चित्तावृन्तिर्जायते, शरीरादात्मनः पृथक्भावश्च भवति, तथैवेदानीमपि विज्ञेयम्।

(भस्मान्तꣳशरीरम्)

एतच्छरीरस्य भस्मान्ता क्रिया कार्या नातो दहनात्परः कश्चित्संस्कारः कर्त्तव्यः।

भाषार्थ

हे (क्रतो) कर्म करने वाले जीव! तू देहान्त के समय (ओ३म्) ओ३म् जिसका निज नाम है उस ईश्वर को (स्मर) चारों तरफ देख (क्लिबे) सामर्थ्य प्राप्ति के लिये परमात्मा और अपने स्वरूप को (स्मर) याद कर (कृतम्) और जो कुछ जीवन में किया है उसको (स्मर) स्मरण कर।

यहां विद्यमान (वायुः) धनंजयादि रूप वायु (अनिलम्) कारण रूप वायु को और अनिल (अमृतम्) नाशरहित कारण को धारण करता है।

(अथ) और (इदम्) यह (शरीरम्) चेष्टादि का आश्रय विनाशी शरीर (भस्मान्तम्) अन्त में भस्म होने वाला होता है, ऐसा जानो ॥१५॥

भावार्थ

जैसे मृत्यु के समय चित्त की वृत्ति होती है, उस समय शरीर से आत्मा पृथक् हो जाता है वैसी ही चित्तवृत्ति तथा शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को जीवन काल में भी समझना चाहिये।

इस शरीर की भस्मान्त क्रिया (अन्त्येष्टि) करनी चाहिये। इस दहन क्रिया के पश्चात् कोई भी संस्कार नहीं करना चाहिये।

(ओ३म् क्रतो स्मर, क्लिबे स्मर)

वर्तमानसमय एकस्य परमेश्वरस्यै-वाज्ञापालनमुपासनं स्वसामर्थ्यवर्द्धनं च कार्यम् ।

जीवन काल में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन और उपासना तथा अपनी शक्ति की वृद्धि करनी चाहिये ।

(कृतꣳस्मर)

कृतं कर्म विफलं न भवतीति मत्वा धर्मे रुचिरधर्मेऽप्रीतिश्च कर्त्तव्या ॥१५॥

किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं होता ऐसा मानकर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रखनी चाहिये ॥१५॥

ऋषि ने इस मन्त्र के 'भस्मान्तꣳशरीरम्' इतने भाग को संस्कारविधि के अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत किया है। वेद के इस प्रमाण से सिद्ध किया है कि शरीरसंस्कार अन्त्येष्टि पर्यन्त ही है। अतः अन्त में ऋषि लिखते हैं—"भस्मान्तꣳशरीरम्" यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका है कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। हां यदि वह सम्पन्न हो तो अपने जीते जी वा मरे पीछे उनके सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्त धर्म का प्रचार अनाथपालन वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिये चाहे जितना धन प्रदान करें बहुत अच्छी बात है।

भाष्यनिष्कर्ष

शरीरस्वभाव का वर्णन ॥

यह चेष्टा आदि का आश्रय शरीर अन्त में भस्म होने वाला होता है।

वायु आदि सब पदार्थ नाश रहित कारण प्रकृति को धारण करते हैं ।

समाधि के द्वारा परमेश्वर को आत्मा में स्थापित करके शरीर का त्याग ॥

ईश्वर का वेदोक्त मुख्य निजनाम 'ओ३म्' है । हे मनुष्य ! तू इसका स्मरण कर अर्थात् उसे सब तरफ देख। शक्ति प्राप्त करने के लिये परमात्मा और अपने स्वरूप का स्मरण कर। जो कुछ किया है उसका स्मरण कर । यह स्मरण कार्य जो देहान्त समय करना है वह जीवनकाल में भी कर। जिससे देहान्त समय में तू परमात्मा का स्मरण अर्थात् समाधि के द्वारा परमात्मा को अपने आत्मा में स्थापित करके शरीर का त्याग कर सके ।

अन्त्येष्टि के पश्चात् अन्य क्रिया करने का निषेध ॥

इस शरीर की भस्मान्त के पश्चात् अन्य कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये ।

स्मर

ऋषि ने स्मर इस पद का अर्थ किया है—पर्यालोचय अर्थात् सब ओर देख। स्मृ धातु स्मरण अर्थ में प्रसिद्ध है। किन्तु यहां 'अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति' के प्रमाण से स्मृ धातु का पर्यालोचन अर्थ किया है। स्मृत धातु के आध्यान, चिन्ता, प्रीति और चलन अर्थ धातु पाठ में मिलते हैं। किन्तु ऋषि का अर्थ इनसे विलक्षण है।

अग्ने नयेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ईश्वरः काननुगृह्णातीत्याह ॥

ईश्वर किन मनुष्यों पर अनुग्रह करता है, इस विषय को कहते हैं ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

संस्कृतार्थः

[हे] (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप करुणामयजगदीश्वर ! [यतो वयं] (ते) तुभ्यम् (भूयिष्ठाम्) बहुतयाम् (नमः, उक्तिम्) सत्कारपुरःसरां प्रशंसाम् (विधेम) परिचरेम [तस्मात्] (विद्वान्) यः सर्वं वेत्ति सः, [त्वम्] (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (जुहुराणम्) कौटिल्यम् (एनः) पापाचरणम् (युयोधि) पृथक् कुरु ।

(अस्मान्) जीवान् (राये) विज्ञानाय, धनाय, वसुसुखाय (सुपथा) धर्म्येण मार्गेण (विश्वानि) अखिलानि (वयुनानि×) प्रशस्यानि प्रज्ञानानि (नय) प्रापय गंमय वा ॥१६॥

(भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम)

ये सत्यभावेन परमेश्वरमुपासते, यथासामर्थ्यं तदाज्ञां पालयन्ति, सर्वोपरि सत्कर्त्तव्यं परमात्मानं मन्यन्ते

तान् दयालुरीश्वरः पापाचरणमार्गात् पृथक्कृत्य धर्म्यमार्गे चालयित्वा विज्ञानं दत्त्वा धर्मार्थकाममोक्षान् साद्धुं समर्थान् करोति ।

भाषार्थ

हे (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) स्वप्रकाश स्वरूप करुणामय जगदीश्वर जिससे हम (ते) तेरे लिये (भूयिष्ठाम्) बहुत अधिक (नम उक्तिम्) सत्कार पूर्वक प्रशंसा (विधेम) करते हैं इससे (विद्वान्) सर्वज्ञ तू (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलता और (एनः) पापाचरण को (युयोधि) दूर कर ।

(अस्मान्) हम जीवों को (राये) विज्ञान, धन, और धन से प्राप्त होने वाले सुख की प्राप्ति के लिये (सुपथा) धर्मपथ से (विश्वानि) सब (वयुनानि) श्रेष्ठ ज्ञान एवं श्रेष्ठ बुद्धि का (नय) प्रदान कर ।

जो सच्ची भावना से परमात्मा की उपासना करते हैं, और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं तथा सब से अधिक सत्कार करने के योग्य परमात्मा को मानते हैं—

उनको दयालु ईश्वर पापाचरण के मार्ग से हटाकर, धर्म मार्ग में चलाकर, उन्हें विज्ञान देकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये समर्थ बना देता है ।

× वयुनमिति, प्रशस्यनामसु । निघं० ३।८॥ प्रज्ञानामसु । निघं० ३।९॥

शिक्षामाह—

तस्मात् सर्व एकमद्वितीयमीश्वरं विहाय करयाप्युपासनं कदाचिन्नैवं कुर्युः ॥१६॥	इसलिये सबको एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़कर किसी की भी उपासना कभी भी नहीं करनी चाहिये ॥१६॥

ऋषि ने यह मन्त्र सत्यार्थप्रकाश (सप्तमसमुल्लास) के प्रार्थनाप्रकरण में उद्धृत किया है । वहां इसके व्याख्यान में यह विशेष लिखा है कि—"आप हमको पवित्र करें" ।

संस्कारविधि के ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना प्रकरण में भी ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान किया है । वहां निम्न पदों की व्याख्या में इतना विशेष लिखा है—अग्ने=ज्ञानस्वरूप । देव=सकलसुखदाता परमेश्वर । राये=राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये । वयुनानि=उत्तम कर्म । विधेम=और सदा आनन्द में रहें ।

संस्कारविधि के संन्यासप्रकरण में संन्यासी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उल्लेख करते हुये ऋषि ने मन्त्र की व्याख्या की है । वहां निम्न पदों की व्याख्या में इतना और विशेष लिखा है—अग्ने=सब दुःखों के दाहक । राये=योगविज्ञान धन की प्राप्ति के लिये । जुहुराणम्=कुटिल पक्षपात सहित । युयोधि=इस अधर्माचरण से हमको सदा दूर रखिये ।

भाष्यनिष्कर्ष

अधर्म के परित्याग और धर्म की वृद्धि के लिये परमेश्वर की प्रार्थना का उपदेश ॥

धर्माचरण से विज्ञान, धन और धन से होने वाले सुख की प्राप्ति होती है । कुटिलता और पापाचरण रूप अधर्म दुःख का कारण है । जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं, सच्ची भावना से उसकी प्रार्थना उपासना करते हैं, उन्हें परमात्मा श्रेष्ठ विज्ञान प्रदान करता है और उनको अधर्म से पृथक् करके धर्म मार्ग में चलाता है ।

—:o:—

हिरण्मयेनेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथान्ते मनुष्यानीश्वर उपदिशति॥

अब अन्त में मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥१७॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्याः! येन] (हिरण्मयेन) ज्योतिर्मयेन (पात्रेण) रक्षकेण मया (सत्यस्य) अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य (अपिहितम्) आच्छादितम् (मुखम्) मुखवदुत्तमाङ्गम् [विकाश्यते]।

(यः) (असौ) (आदित्ये) प्राणे सूर्यमण्डले वा (पुरुषः) पूर्णः परमात्मा [अस्ति] (सः) (असौ) (अहम्) (खम्) आकाशवद् व्यापकम् (ब्रह्म) सर्वेभ्यो गुणकर्म स्वभाव रूपतो बृहत् [अस्मि] (ओ३म्) योऽवति सकलं जगत्तदाख्या, [इति विजानीत]॥१७॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो! जिस (हिरण्मयेन) ज्योति से परिपूर्ण (पात्रेण) सबके रक्षक मेरे द्वारा (सत्यस्य) कभी नष्ट न होने वाले, सत् रूप कारण (प्रकृति का (अपिहितम्) ढके हुये (मुखम्) मुख के समान उत्तम अङ्ग का विकाश किया जाता है।

(यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) प्राण वा सूर्यमण्डल में (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा है (सः) वह (असौ) परोक्ष (अहम्) मैं (खम्) आकाश के समान व्यापक (ब्रह्म) गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि से सब से बड़ा हूँ (ओ३म्) मैं सब जगत् का रक्षक 'ओ३म्' हूँ ऐसा तुम जानो॥ १७॥

भावार्थः

सर्वान् मनुष्यान् प्रतीश्वर उपदिशति—

भावार्थ

सब मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है—

(योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्)

हे मनुष्या! योऽहमचास्मि स एवान्यत्र सूर्यादौ, योऽन्यत्र सूर्यादावस्मि स एवाचास्मि सर्वत्र परिपूर्णः।

हे मनुष्यो! जो मैं यहाँ हूँ वही अन्यत्र सूर्य आदि में हूँ और जो अन्यत्र सूर्य आदि में हूँ वही यहाँ। हूँ मैं सर्वत्र परिपूर्ण—

(ओ३म् खं ब्रह्म)

खवद्व्यापको न मत्तः किञ्चिदन्येद् बृहदहमेव सर्वेभ्यो महानस्मि मदीयं सुलक्षणपुत्रवत् प्राणप्रियं निजस्य नामो३मिति वर्त्तते।

आकाश के समान व्यापक हूँ। मुझसे कोई भी दूसरा बड़ा नहीं है मैं ही सबसे महान् हूँ। मेरा सुन्दर पुत्र के समान प्राणों से प्यारा निज नाम 'ओ३म्' है।

(हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्)

यो मम प्रेमसत्याचरणाभ्यां शरणं गच्छति तस्यान्तर्यामिरूपेणाहमविद्यां विनाश्य तदात्मानं प्रकाश्य शुभगुणकर्मस्वभावं कृत्वा सत्यस्वरूपाचरणं स्थापयित्वा शुद्धं योगजं विज्ञानं दत्त्वा सर्वेभ्यो दुःखेभ्यः पृथक् कृत्य मोक्षसुखं प्रापयामीत्यो३म् ॥१७॥

जो मेरी प्रीति और सत्याचरण के द्वारा शरण में आता है मैं उस की अन्तर्यामी अविद्या को समाप्त करके उसकी आत्मा को प्रकाशित कर, शुभ गुण कर्म स्वभाव बना कर सत्य आचरण को स्थापित कर, योग से उत्पन्न शुद्ध विज्ञान देकर सब दुःखों से छुड़ा कर मोक्ष सुख प्रदान करता हूँ। यजुर्वेदभाष्य की समाप्ति पर अन्त में 'ओ३म्' का नाम स्मरण किया है ॥१७॥

वेदों में परमेश्वर के नामों का वर्णन है और परमेश्वर के 'ओ३म्' आदि नाम सार्थक हैं इस की सिद्धि में ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश (प्रथमसमुल्लास) में इस मन्त्र के 'ओ३म् खं ब्रह्म' इस अंश को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। परमेश्वर का नाम ओम् है इस की सिद्धि में उक्त मन्त्रांश ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदविषयविचार) में भी प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है।

भाष्यनिष्कर्ष

ईश्वर के स्वरूप का वर्णन ॥

ईश्वर ज्योतिस्वरूप और सबका रक्षक है। वही अन्धकार से आवृत प्रकृति का विकाश करता है। वही सूर्यमण्डल में भी विराजमान है।

परमात्मा का मुख्य नाम ओ३म् ॥

परमात्मा का सर्वोत्ताम नाम 'ओ३म्' है वह आकाश को समान व्यापक गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि से सबसे बड़ा है।

चत्वारिंशाध्यायस्य विषयसूची

ईशावास्यछं० ॥१॥

१-ईश्वरगुणकर्मवर्णनम् । — १-ईश्वर के गुण कर्मों का वर्णन ।

२-अधर्मत्यागोपदेशः । — २-अधर्म त्याग का उपदेश ।

कुर्वन्नेवेह० ॥ २ ॥

३-सर्वदा सत्कर्मानुष्ठानावश्यकत्वम् । — ३-सर्वदा सत्कर्म का अनुष्ठान आवश्यक ।

असुर्या नाम० ॥३॥

४-अधर्माचरण निन्दा । — ४-अधर्म आचरण की निन्दा ।

अनेजदेकं० ॥४॥

५-परमेश्वरस्यातिसूक्ष्मस्वरूपवर्णनम् । — ५-परमेश्वर के अतिसूक्ष्म स्वरूप का वर्णन ।

तदेजति० ॥५॥

६-विदुषां ज्ञेयत्वमविदुषामविज्ञेयत्वम् । — ६-विद्वानों के लिए ज्ञेय और अविद्वानों के लिये अज्ञेय ।

यस्तु सर्वाणि० ॥६॥

यस्मिन् सर्वाणि० ॥७॥

७-सर्वत्रात्मभावेनाहिंसाधर्मपालनम् तेन मोहशोकादित्यागः । — ७-सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा धर्म का पालन और उससे मोह शोकादि का त्याग ।

स पर्यगाच्छुक्र० ॥८॥

८-ईश्वरस्य जन्मादिदोषराहित्यम् । — ८-ईश्वर का जन्म आदि दोषों से रहित होना ।

९-वेदविद्योपदेशनम् । — ९-वेदविद्या का उपदेश ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति० इत्यादि ॥ ९ । १० । ११ ॥

१०-कार्यकारणात्मकस्य जड़स्योपासन-निषेधस्ताभ्यां कार्यकारणाभ्यां मृत्युं निवार्य मोक्षसिद्धि करणम् । — १०-कार्य कारण स्वरूप जड़ वस्तु की उपासना का निषेध, उन कार्य और कारण से मृत्यु को हटाकर मोक्ष की सिद्धि करना ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति० इत्यादि ॥ १२ । १३ । १४॥

११-जडवस्तुन उपासननिषेधश्चेतनोपासन-विधिस्तदुभयस्वरूपविज्ञानाऽऽवश्यकत्वम् । — ११-जड़ वस्तु की उपासना का निषेध चेतन की उपासना का विधान और दोनों के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक ।

वायुरनिलममृत० ।।१५।।

१२-शरीरस्वभाव वर्णनम् । — १२-शरीर के स्वभाव का वर्णन ।

१३-समाधिना परमेश्वरमात्मनि निधाय शरीरत्यागकरणम् । — १३-समाधि के द्वारा परमेश्वर को आत्मा में स्थापित करके शरीर का त्याग करना ।

१४-शरीरदाहा दूर्ध्वमन्यक्रिया ऽनुष्ठान-निषेधः । — १४-अन्त्येष्टि के पश्चात् अन्य क्रिया करने का निषेध ।

अग्ने नय सुपथा०।।१६।।

१५-अधर्मत्यागाय धर्मवर्द्धनाय परमेश्वर-प्रार्थनम् ।। — १५-अधर्म के परित्याग और धर्म की वृद्धि के लिए परमेश्वर से प्रार्थना।

हिरण्मयेन पात्रेण ।।१७।।

१६-ईश्वरस्वरूपवर्णनम् । — १६-ईश्वर के स्वरूप का वर्णन ।

१७-सर्वेभ्योनामभ्य ओ३म् इत्यस्य प्राधान्यप्रतिपादनं च कृतम् । — १७-सब नामों से 'ओ३म्' इस परमात्मा के नाम की मुख्यता का प्रतिपादन।

इससे इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ संगति है यह जानना चाहिये ।।

पूर्व अध्याय में अन्त्येष्टि कर्म का वर्णन है । इस अध्याय में शरीर के स्वभाव का वर्णन है कि वह भस्मान्त होने वाला है । मृत्यु अर्थात् शरीर से आत्मा पृथक् हो जाता है इससे विवेक ज्ञान का उपदेश किया है । इसी प्रकार समस्त कार्य जगत् और कारण प्रकृति का भी वर्णन है । जड़ और चेतन अर्थात् विद्या और अविद्या का विद्वानों के सङ्ग से विवेक ज्ञान प्राप्त करके उनका यथावत् उपयोग करें । अविद्या के द्वारा मृत्यु दुःख से पार होकर विद्या के द्वारा अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने का उपदेश है । इस प्रकार सम्पूर्ण अध्याय में अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रधान साधन, उपर्युक्त विषयों का वर्णन ऋषि ने वेदभाष्य में दर्शाया है। जिनकी पूर्व अध्याय से संगति के लिये संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

१–धर्माचरण अभ्युदय और निःश्रेयस का कारण है । अधर्माचरण दुःख का मूल है। सकलैश्वर्यसम्पन्न सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सब का नियन्ता जो ईश्वर है उसी का भय मनुष्य को अधर्माचरण से हटाता है ।

२–सर्वदा सत्कर्म का अनुष्ठान ही दुःखमूलक अधर्माचरण रूप दुष्कर्म के लेप से बचने का एकमात्र उपाय है।

३—अधर्माचरण करने वाले असुर इस लोक और परलोक में भी घोर दुःखों को प्राप्त होते हैं। अतः अधर्माचरण की निन्दा की गई है।

४—अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फलों का प्रदाता परमेश्वर है। अतः उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराया गया है।

५—सर्वत्र व्यापक, आत्मा के अति निकट विद्यमान ईश्वर के सम्यग्दर्शन से विद्वान् के सब संशय नष्ट हो जाते हैं। अविद्याजन्य मोह शोकादि की निवृत्ति से मुक्ति की प्राप्ति होती है। वह सूक्ष्म ब्रह्म किसको प्राप्त है और किसको अप्राप्त है तथा उसकी प्राप्ति किस प्रकार होती है इस विषय का वर्णन किया गया है।

६—ईश्वर जन्म मरण आदि से रहित है इत्यादि परमेश्वर के सच्चे स्वरूप के उपदेश से परमात्मा के सम्बन्ध में होने वाले, मिथ्याज्ञान का निराकरण किया गया है।

७—सर्वज्ञ प्रभु ने अपनी प्रजा के कल्याण के लिये वेद विद्या का उपदेश किया है। वेद ज्ञान के विना मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं।

८—कार्य, कारण वस्तु उपासनीय नहीं किन्तु मृत्यु दुःख को निवृत्ति तथा मोक्ष की सिद्धि के लिए है।

९—चेतन के स्थान पर जड़ वस्तु की उपासना से अज्ञान, अधर्म और दुःख की प्राप्ति होती है। चेतन परमात्मा की उपासना अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति में कारण बनती है। इस प्रकार अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु दुःख को तरकर विद्या अर्थात् यथार्थज्ञान से मोक्ष प्राप्ति का उपदेश किया है।

१०—शरीर के स्वभाव का ज्ञान अर्थात् यह शरीर भस्मान्त है। आत्मा शरीर से पृथक् हो जाता है अर्थात् मृत्यु ही विवेकज्ञान का मूल करण है। यह विवेक ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य कहलातो है। इसी से ऋषि दयानन्द आदि सच्चे मुमुक्षु बने। मुमुक्षुत्व ही मुक्ति का सर्वप्रथम मुख्य साधन है।

११—अधर्माचरण के त्याग के लिये और अभ्युदय और निःश्रेयस के मूल कारण धर्माचरण को ग्रहण करने के लिए आत्मिक उत्साह एवं उल्लास की आवश्यकता है। सब प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सहायता परमावश्यक है। अतः ईश्वर की स्तुति और उससे प्रार्थना करने का वर्णन किया गया है।

१२—अन्त में स्तुति प्रार्थना उपासना तथा स्मरण करने योग्य ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया गया है तथा उसके निज नाम ओ३म् के साथ यजुर्वेदभाष्य की समाप्ति की गई है। क्योंकि परमेश्वर ही सब सत्य विद्याओं का और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल है।

इस प्रकार इस अध्याय में वर्णन किया गया सब विषय प्रथम अध्याय में प्रतिपादित अन्त्येष्टि कर्म के साथ सुसंगत है।

यजुर्वेदभाष्य (४० अ०) विषयसूची ॥

ईश्वर ॥

ईश्वर का निज नाम—ईश्वर का निजनाम ओ३म् है (१५, १७)। ईश्वर के ओ३म् आदि नाम सार्थक हैं (१७)। ओ३म् नाम के साथ वेदभाष्य की समाप्ति (१७)॥

ईश्वर का स्वरूप—सर्वत्र व्यापक (१, ४, ५, ६, ८; १७)। सर्वशक्तिमान् (१, ८)। अन्तर्यामी (१, ६)। सनातन (६, ८)। सर्वज्ञ (६, ८, १६)। सकलैश्वर्यसम्पन्न (१)। अद्वितीय, कम्पनरहित अर्थात् अपनी अवस्था से अविचल, मन से भी अधिक वेगवान् अर्थात् जहाँ जहाँ मन जाता है वहां वहां पहले से ही विद्यमान, सबका अग्रणी, सर्वगत, अविद्वान् तथा चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा अलभ्य, स्थिर (४)। आत्मा का भी आत्मा, अचलायमान (५)। शीघ्रकारी तीनों प्रकार के शरीर से रहित, छिद्ररहित अर्थात् परमाणु भी उसमें छिद्र नहीं कर सकता (अखण्ड, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध अर्थात् अविद्यादि दोषों से रहित (सदा पवित्र), पाप रहित, स्वयम्भू अर्थात् (संयोगजन्य उत्पत्ति रहित एवं वियोगजन्य-विनाश रहित, जिसका माता पिता कोई नहीं गर्भवास और जन्म से रहित, वृद्धि और क्षय से रहित, सदा मुक्त) सब के ऊपर विराजमान, अनन्त, कभी अवतार धारण नहीं करता, त्रैकालज्ञ, सबके मन का दमन करने वाला (८)। सत्, चित्, आनन्द (६)। अविनाशी (१४) दिव्य स्वरूप, स्वप्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, करुणामय (१६)। ज्योति से परिपूर्ण प्राण एवं सूर्यमण्डल में परिपूर्ण, आकाश के समान व्यापक, गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि से सबसे बड़ा (१७)॥

ईश्वर के कार्य—जगत् का नियन्ता (१, ४, ८)। सर्वद्रष्टा और न्यायाधीश (२, ५, ६, ८)। पुरुषार्थी एवं परोपकारी का सहायक (८)। जीवों का धारक (४)। मनीषी अर्थात् सब जीवों की मनोवृत्ति का ज्ञाता, परिभू अर्थात् पापियों का तिरस्कारक, सृष्टिकर्ता, स्वयं कभी अवतार धारण नहीं करता (८)। सकल सुखदाता, राज्यादि ऐश्वर्य का देने वाला, विज्ञान धन का प्रदाता (१६)। सब जगत् का रक्षक, ढकी हुई प्रकृति का विकाशकर्ता॥

ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना एवं स्मरण—

स्तुति—ईश्वर की सगुण और निर्गुण स्तुति का वर्णन, अपने चरित्र सुधार के विना परमात्मा की स्तुति करना व्यर्थ (८)। परमात्मा का बहुत अधिक सत्कार पूर्वक प्रशंसा (स्तुति) करने का विधान (१६)। स्तुति का लक्षण और लाभ (१६)॥

प्रार्थना—परमात्मा से आत्मा को पवित्र करने की प्रार्थना, धर्मपथ से श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ बुद्धि की प्राप्ति के लिए प्रार्थना, ईश्वर प्रार्थना से प्राप्त श्रेष्ठ ज्ञान का फल—१. विज्ञान २. धन ३. धन से प्राप्त होने वाले सुख, जगदीश्वर से कुटिलता और पापाचरण दूर करने की प्रार्थना, हम सदा आनन्द में रहें, अधर्मत्याग और धर्मबुद्धि के लिये परमेश्वर से प्रार्थना (१६)। प्रार्थना का लक्षण और उसके लाभ (१६)॥

उपासना—ब्रह्म ही उपासनीय है (५, ८, ६, १२, १६)। मूर्तिपूजा का खण्डन (८)। ईश्वर से भिन्न की उपासना का निषेध (६, १०, १२,१३,१६)। सच्ची भावना से उपासना करने वाले को परमात्मा किस प्रकार क्या-क्या फल प्रदान करता है (१६ भावार्थ)। उपासना का लक्षण और उसके लाभ (१६)। प्रीति और सत्याचरण के द्वारा शरण में आने वाले मनुष्य को परमात्मा क्या क्या प्रदान करता है (१७ भावार्थ)॥

ओ३म् का स्मरण— हे जीव! तू जीवन काल में ओ३म् इस नाम से वाच्य ईश्वर का स्मरण कर अर्थात् उसको सब तरफ देख (१५)॥

ईश्वर का वेदोपदेश—परमात्मा अपनी प्रजा के लिए वेद के द्वारा सब पदार्थों का यथार्थता से उपदेश करता है। वेदोपदेश के विना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्मा का वेदोपदेश प्रजा के कल्याण के लिये है। परमात्मा का ज्ञान होने से वेद नित्य हैं। परमात्मा के उपदेश (वेद) के विना कोई भी विद्वान् नहीं हो सकता। वेद-पुस्तक ही ईश्वर कृत है अन्य नहीं (८)॥

(२) आत्मा॥

आत्मा का लक्षण—ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन वस्तु ज्ञाता कहलाता है (१२)। अविनाशी (१४)। कर्मों का करने वाला जीव (१५)।

आत्मा का आधार—जैसे अन्तरिक्ष में वायु वैसे ही ब्रह्म में जीव क्रियाशील है (४)।

ईश्वर की प्रजाभूत आत्मा का स्वरूप—सनातन, अनादि, अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश रहित (८)।

देवात्मा—देव और आर्य पर्यायवाची हैं। देव आत्मा, मन, वाणी और कर्म में एक होते हैं। आत्मा में स्थित ज्ञान के अनुकूल कहते, मानते और करते हैं (३)॥

देवात्मा के कार्य—देवों का आचरण कपट रहित होता है। देव सौभाग्यशाली एवं जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं॥

देवात्मप्रशंसा— देव आनन्द युक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त करते हैं। देव इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं (३)॥

असुरात्मा का लक्षण— दैत्य, राक्षस, पिशाच, दुष्ट ये असुर के पर्यायवाची हैं। अज्ञान से आवृत, आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले, प्राणपोषण में तत्पर, अविद्यादि दोषों से युक्त पापकर्मी, आत्मा वाणी और कर्म से एक न रहने वाले असुर कहलाते हैं (३)॥

असुर निन्दा—असुर अविद्या रूप दुःख सागर में पड़े रहते हैं। असुर कभी भी आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। असुर दुःखदायक देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं। असुर इस लोक और परलोक में दुःखी रहते हैं (३) ॥

विद्वान् (धर्मात्मा) का लक्षण—सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक, विचारशील को विद्वान् कहते हैं। विद्वान् प्रकृति आदि पदार्थों में परमात्मा को तथा परमात्मा में प्रकृत्यादि सब जड़ चेतन पदार्थों को विद्यमान देखता है। सम्यग्दर्शन का फल—जड़ चेतन में व्यापक परमात्मा के सम्यग्दर्शन से विद्वान् के सब सन्देहों की निवृत्ति ॥

अविद्वान् (अधर्मात्मा) का लक्षण—विचारशून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वर-भक्तिरहित व्यक्ति अविद्वान् कहलाता है।

धर्मात्मा—सुख दुःख, हानि लाभ में अपनी आत्मा के समान सब प्राणियों को समझकर व्यवहार करने वाला (६)। ब्रह्म धर्मात्माओं के अति निकट उनकी आत्मा में स्थित है (५)। धार्मिक ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं (६)॥

धीर का लक्षण—मेधावी, विद्वान् योगी को धीर कहते हैं (१०) ॥

संन्यासी के लक्षण—परमात्मा ज्ञान, विज्ञान अथवा धर्म का सम्यग्ज्ञाता, सब प्राणियों को अपने आत्मा के समान समझने वाला, परमात्मा के एकत्व का योगाभ्यास से साक्षात् द्रष्टा, मोह शोकादि से रहित, सब प्राणियों का हितचिन्तक; आत्मा को जानकर अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञाता, संन्यासी कहलाता है। ऐसे समदर्शी योगी संन्यासी सदा सुखी रहते हैं (७) ॥

कारण कार्य का विवेकी आत्मा—

कारण (प्रकृति) का लक्षण—अनादि, उत्पत्ति रहित, (९-१०)। सत्त्व रज तम गुण रूप, जड़, सम्पूर्ण जड़ जगत् का आदिकारण, नित्य (९)। विनाश=जिसमें सब पदार्थ अदृश्य हो जाते हैं (११)। अविनाशी, सत् स्वरूप (१७) ॥

प्रकृति-उपासकों की निन्दा—परमेश्वर को छोड़कर प्रकृति के उपासक अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं (९) ॥

कार्य (स्थूल जगत्) का लक्षण—जगत् चलायमान है (१)। महत्तत्त्वादि स्वरूप में परिणत। कारणभूत प्रकृति से उत्पन्न। पृथिव्यादि स्थूल रूप। अनित्य (९)। संयोग से उत्पन्न (९, १०)। शरीर इन्द्रिय अन्तःकरण रूप (११)। जिसमें सब पदार्थ उत्न्न होते हैं (११)।

जगत् की अवधि—जगत् की अवधि प्रकृति से लेकर पृथ्वीपर्यन्त है (१)।

जगत् के दो प्रकार—जड़ चेतन भेद से जगत् दो प्रकार है (१)।

कर्मोपासकों की निन्दा—सृष्टि में ही रमण करने वाले अधिक अविद्यान्धकार में पड़े रहते हैं (६) ॥

कार्यकारण का विवेक ज्ञान पूर्वक उपयोग— सब मनुष्यों को कार्य कारण का जानना और जनाना आवश्यक है। विद्वान् लोग कार्य और कारण से भिन्न-भिन्न उपकार ग्रहण करते और करवाते हैं। विद्वान् लोग कार्य और कारण के गुणों को स्वयं जानते और अन्यों को जनाते हैं। कार्यकारण के विवेक ज्ञान से उनके पृथक्-पृथक् फलों को समझो (१०)। कार्य कारण के गुण कर्म स्वभावों को जानकर मोक्ष सिद्धि में उपयोग करो (११)।

कार्य कारण की आवश्यकता— मृत्यु दुःख से पार होकर अमृत को प्राप्त करने के लिये कार्य और कारण दोनों का ज्ञान आवश्यक। कार्य और कारण निरर्थक नहीं। धर्म में प्रवृत्त होने के लिये सृष्टि आवश्यक। कार्य कारण की नित्यता के ज्ञान से मृत्यु को हटाओ और मोक्ष को साधो (११)।

कार्यकारण की उपासना का निषेध–कार्य कारण उपासनीय नहीं है अपितु उपयोग में लाने योग्य है। परमेश्वर के स्थान में कार्य कारण की उपासना नहीं करनी चाहिये (११) ॥

इस प्रकार योगी आत्मायें कार्य कारण का विवेक पूर्वक ज्ञान प्राप्त करके उनको मोक्षसिद्धि में समुचित प्रयोग करती हैं।

विद्या (चेतन एवं यथार्थज्ञान) अविद्या (जड़) का विवेकी आत्मा:—

विद्या का लक्षण—शब्द अर्थ सम्बन्ध का ज्ञान मात्र। (१२)॥

विद्यारत का लक्षण—शब्द अर्थ सम्बन्ध मात्र संस्कृत भाषा के ज्ञाता, सत्य-भाषण रहित, पक्षपातरहित न्यायाचरण रूप धर्म का अनुष्ठान न करने वाला, अभि-मानी, विपरीत आचरण से अविद्या का मान तथा विद्या का अपमान कर्त्ता (१२) ॥

विद्यारत की निन्दा–विद्या के उपासक अज्ञान दुःख सागर में पड़े सदा दुःखी रहते हैं (१२) ॥

विद्या लक्षण (२)—आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के सहयोग से उत्पन्न यथार्थ-ज्ञान (१४) ॥

विद्या के साधक— विद्या और उसके साधक उपसाधनों का ज्ञान आवश्यक है (१४)। विद्या का साधक चेतन पदार्थ है (१४)।

विद्या का पंगुत्व— केवल ज्ञान (विद्या) से धर्मादि की सिद्धि नहीं हो सकती (१४)। केवल चेतन (विद्या) से धर्मादि की सिद्धि नहीं हो सकती (१४) ॥

विद्या का फल–विद्या के प्रयोग से परमार्थिक सम्बन्धी प्राप्ति होती है (१४)।

अविद्या का लक्षण—अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा जानना अविद्या है। ज्ञानादि गुणों से रहित कार्य कारण रूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु। अविद्यादि पांच क्लेश १ अविद्या २-अस्मिता ३-राग ४—द्वेष ५—अभिनिवेश अविद्या रूप वस्तु ज्ञेय है (१२)। प्रकृत्यादि कारण तथा शरीर आदि कार्य वस्तु। शरीर आदि जड़ पदार्थों से किया गया पुरुषार्थ अर्थात् कर्म और उपासना (१४)॥

अविद्या के साधक—अविद्या और उसके उपयोगी नाना साधनों का ज्ञान आवश्यक (१४)। अविद्या का साधक जड़ पदार्थ है (१४)॥

अविद्या का पंगुत्व—केवल अविद्या (जड़) से धर्मादि की सिद्धि नहीं हो सकती (१४)। केवल कर्म से धर्मादि की सिद्धि नहीं हो सकती (१४)॥

अविद्या की आवश्यकता—अविद्या (जड़) के बिना परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकता (१४)। जीव, कर्म, उपासना और ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता (१४)।

अविद्या का उपयोग—आत्मज्ञानी विद्वानों ने बतलाया है कि अविद्या शरीर आदि जड़ पदार्थ के प्रयोग से लौकिक दुःख की निवृत्ति करो (१४)।

लौकिक दुःख (मृत्यु) का लक्षण—शरीर और आत्मा के वियोग से उत्पन्न दुःख (११) प्राणत्याग में उत्पन्न होने वाले दुख से भय (१४)।

अविद्योपासक की निन्दा—अविद्या के उपासक गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं (१२)। अविद्यादि दोषों से युक्त मनुष्य महान् दुःख सागर में डूबते हैं (१२)॥

इस प्रकार विद्या और अविद्या का विवेकज्ञान प्राप्त करके पवित्र आत्मायें अमृत को प्राप्त करती हैं।

विद्या और अविद्या का सहज्ञान—जड़ और चेतन वस्तु के स्वरूप का साथ साथ ज्ञान आवश्यक है (१३-१४)।

विद्या और अविद्या से रहित होना असम्भव—कर्म उपासना और ज्ञान के विना कोई भी एक क्षण के लिये भी खाली नहीं रह सकता (१४)।

विद्या और अविद्या का उपयोग—जड़ और चेतन वस्तु का उपयोग पृथक् पृथक् है (१३)।

उपयोगज्ञान के साधन—१. विद्वानों का संग २. विज्ञान ३. योग ४. धर्माचरण।

विद्या और अविद्या का फल—आत्मज्ञानी विद्वानों द्वारा कथिन विद्या और अविद्या का फल जानना मनुष्य के लिये आवश्यक (१३)। विद्या और अविद्या का धर्म अर्थ काम मोक्ष की सिद्धि में साथ-साथ प्रयोग करो (१४)।

विद्या और अविद्या उपासनीय नहीं—परमेश्वर से भिन्न उपासनीय नहीं हो सकता किन्तु वह उपकार ग्रहण करने योग्य है (१२)।

अन्त्येष्टि कर्म द्वारा शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का विवेक—

शरीर का लक्षण—यह शरीर चेष्टादि का आश्रय है। शरीर का स्वभाव भस्मान्त है अर्थात् अन्त में राख हो जाने वाला (१५)॥

शरीर और आत्मा का सम्बन्ध—देहान्त के समय आत्मा शरीर से पृथक् हो जाता है ? (१५)।

शरीर त्याग को वैदिक विधि—समाधि के द्वारा परमेश्वर को आत्मा में स्थापित करके शरीर का त्याग करना चाहिए (१५)।

देहान्त के पश्चात् प्राणों की अवस्था—शरीर में विद्यमान धनंजय आदि प्राण अपने कारण भूत वायु (अनिल) में लीन हो जाते हैं। कारण भूत वायु नाश रहित सूक्ष्म वायु में मिल जाता है (१५)।

अन्त्येष्टि कर्म—शरीर की भस्मान्त क्रिया का विधान। शरीर के संस्कारों की अवधि अन्त्येष्टि कर्म है। अन्त्येष्टि के पश्चात् अन्य संस्कार का निषेध (१५)।

मृतक के लिये कर्त्तव्याकर्त्तव्यः -१-भस्मान्त क्रिया (दाहकर्म)। २-अस्थि-संचयन। ३-इसके अतिरिक्त अन्य कोई कर्म कर्त्तव्य नहीं (१५)।

देहान्त के समय स्मर्तव्य—हे जीव तू देहान्त के समय सब ओर ओ३म् को देख (१५)। जीवनकाल में किये कर्मों का स्मरण करने का विधान। सामर्थ्य प्राप्ति के लिये परमात्मा तथा आत्मा का स्मरण।

जीवन काल में स्मरणीय—देहान्त के समय होने वाली चित्तवृत्ति तथा शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का स्मरण जीवन काल में भी आवश्यक।

ईश्वर प्राप्ति अर्थात् मोक्ष

ब्रह्म का साक्षात् किसको—ब्रह्म का साक्षात्कार धार्मिक विद्वान् योगी को ही होता है (४)। विषयों की ओर भागने वाली इन्द्रियाँ ब्रह्मस्वरूप से भिन्न हैं अतः उनके द्वारा ब्रह्म अलभ्य है (४)। चक्षु आदि इन्द्रियों एवं अविद्वानों के द्वारा ब्रह्म अदृश्य (४)। विषय ग्रस्त ब्रह्म का साक्षात् नहीं कर सकते (४)। ब्रह्म विद्वानों के लिये ज्ञेय और अविद्वानों के लिये अज्ञेय है। ब्रह्म विद्वानों के निकट और अविद्वानों से दूर है। ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाले धर्मात्मा ब्रह्म विद्वान् योगियों के ब्रह्म समीप है। धर्मात्मा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने

वाले अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से ब्रह्म दूर है। अधर्मात्मा ब्रह्म को नहीं जान सकते (५)।

मोक्ष के साधन—ब्रह्म का ज्ञान शुद्ध मन से (४)। परमात्मदर्शनार्थ विद्वान् के लिये विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास आवश्यक (६)। सम्यग्दर्शन से सन्देह निवृत्ति (६)। सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा धर्म का पालन (७)। धर्मयुक्त सत्यभाषण आदि कर्म करना और अधर्मयुक्त असत्य भाषण आदि कर्म का छोड़ देना (१४)। पवित्र कर्म, पवित्रोपासना, पवित्रज्ञान (१४)।

ईश्वरोपासना का फल—सच्ची भावना से परमात्मा की उपासना से परमात्मा मनुष्य को पापाचरण से हटा देता है और धर्म मार्ग में प्रवृत्त कर देता है एवं विज्ञान प्राप्त करा देता है अविद्या का नाश करा देता है शुभ गुण कर्म अर्थात् सत्याचरण को स्थापित कर देता है योगज शुद्ध विज्ञान की प्राप्ति द्वारा मोक्षानन्द प्राप्त करा देता है (१६)। आत्मा से आनन्द को भोग (१) अभ्युदय और निःश्रेयस को भोग (१)। सर्वदा आनन्द में रह (१)

॥ धर्माचरण ॥

आत्मा के लिये धर्माचरण का उपदेश—सर्वद्रष्टा ईश्वर से डर। अन्याय से किसी के धन की अभिलाषा मत कर (१)। परमात्मा की आज्ञा मान। धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को कर वेदोक्त उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की उन्नति कर। आलस्य का त्याग कर पुरुषार्थी अशुभ कर्मों को छोड़। शुभ कम कर। ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्या और उत्ताम शिक्षा को प्राप्त कर। उपस्थेन्द्रिय के संयम से बल को बढ़ा। अल्पायु को हटा। युक्त आहार बिहार से सौ बर्ष की आयु प्राप्तकर। सौ वर्ष जीने की इच्छाकर [२] सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा का पालन कर। सब प्राणियों के साथ आत्मा के समान व्यवहार करना सन्यासी का कर्त्तव्य (६)। अन्याय आचरण के त्याग से धार्मिक बन (११)। धर्मयुक्त सत्यभाषण आदि कर (१४)।

जीवन काल में कर्त्तव्य कर्म—परमेश्वराज्ञापालन, परमेश्वरोपासना, अपनी शक्ति की वृद्धि, वेद विद्या का प्रचार वेदोक्त धर्म का प्रचार, अनाथों का पालन, वेदोक्त धर्मोपदेश के लिये खूब दिल खोलकर दान (१५)। कर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रख (१५)।

धर्माचरण से जग का उपयोग—जगत् में विद्यमान वस्तुयें किसी की नहीं; अतः अन्यायाचरण के परित्याग एवं रागरहित होकर जगत् का उपभोग कर (१)।

कर्मों का फल अनिवार्य—किये हुए कर्म का फल अवश्य मिलता है।

धर्माचरण का फल—धर्मयुक्त कर्मों से दुष्कर्मों के लेप का अभाव (२)। दुष्कर्मों के लेप को दूर करने के लिये धर्मयुक्त कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान से पापकर्मों से बुद्धि की निवृति। शुभकर्मों से विद्या आयु सुशीलता आदि की वृद्धि (२)।

ऋषि का वेदभाष्य और आर्य विद्वान्

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन-काल में प्राणिमात्र के कल्याण के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। उन सब में परमात्मा की कल्याणी वाणी वेद का भाष्य अपना विशेष स्थान रखता है। उनके जीवन का अधिकतर अमूल्य समय वेदभाष्य के कार्य में ही लगा। उनके रचे 'सत्यार्थप्रकाश', "संस्कारविधि" 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका,' आदि ग्रन्थों का प्रचार बहुत हुआ किन्तु आर्यों ने उनके रचे अमूल्य ग्रन्थ रत्न वेदभाष्य का प्रचार नहीं किया। महर्षि के वेदभाष्य को न अपनाकर विद्वानों ने अपने वेदभाष्यों की रचना की और उन्हीं का प्रचार किया।

वेदभाष्य का कार्य ऐसा है कि जिसमें केवल पाण्डित्य के बल पर कोई विद्वान् सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। केवल विद्या के बल पर किये गये वेदभाष्य दोष रहित नहीं हो सकते। इसमें जीवन की पवित्रता एवं योगज साक्षात्कार की भी परम आवश्यकता है। जिन विद्वानों ने केवल अक्षर ज्ञान के आधार पर वेदमन्त्रों के अर्थ किये हैं, और ऋषि दयानन्द के किये मन्त्रों के अर्थों को देखने का कष्ट नहीं किया है वह सभी आर्य विद्वान् भी भ्रान्ति में रहे। वेद का सत्यार्थ जनता के सामने प्रस्तुत न कर सके।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन आर्य विद्वानों का अभिप्राय, मन्त्रों के अशुद्ध अथ करने का था। उनके हृदय एवं आत्मा में तो यही पवित्र भावना थी कि हम ऋषि के आदेश अनुसार मन्त्रों का सत्यार्थ जनता के सामने प्रस्तुत कर किन्तु जिन मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द का भाष्य विद्यमान है उन वेदमन्त्रों का अपना अर्थ करने से पहले ऋषिभाष्य को देखने एवं मनन करने का कष्ट नहीं किया। यदि ऋषिभाष्य को देखकर एवं मनन करके मन्त्रों का व्याख्यान करते तो भ्रान्ति में न गिरते।

ऐसा न करने का यह फल हुआ कि आर्यसमाज के उच्च कोटि के विद्वानों ने भी ऋषि दयानन्द के विपरीत मन्त्रों का व्याख्यान किया। जिससे अज्ञानतावश ऋषि का खण्डन हो गया। उदाहरण के लिए यजुर्वेद के इस ४०वें अध्याय के विद्या अविद्या प्रकरण का मनन कीजिये। ऋषि ने विद्या और अविद्या की व्याख्या सत्यार्थ-प्रकाश के नवमसमुल्लास के प्रारम्भ में भी की है तथा वेदभाष्य में भी वेद प्रतिपादित विद्या और अविद्या क्या वस्तु है, इसे भलीभाँति समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया है तथा इस विषय को बड़े विस्तार के साथ लिखा है।

ईशोपनिषद् का भाष्य करते हुये आर्य विद्वानों ने ऋषि के किए वेद व्याख्यान को नहीं देखा और अपना मनचाहा अर्थ विद्या और अविद्या का कर डाला। आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध तार्किक विद्वान् स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती ने विद्या और अविद्या की व्याख्या इस प्रकार की है :—

अविद्या=अज्ञान। विद्या=ज्ञान। अविद्या के तीन भेद हैं-१-अविद्या, २-विद्या, ३-सत् विद्या। अविद्या का अर्थ मिथ्याज्ञान, विद्या का अर्थ व्यावहारिक ज्ञान तथा सत्

विद्या का अर्थ पारमार्थिक ज्ञान किया है। इसी प्रकार मनुष्यों के तीन भेद बतलाये हैं—

१--पामर, २--मनुष्य, ३—मुमुक्षु। अविद्या के उपासक पामर, विद्या के उपासक मनुष्य तथा सत् विद्या के उपासक मुमुक्षु कहलाते हैं। इस प्रकार विद्या और अविद्या की व्याख्या करके मन्त्र का भावार्थ निम्न प्रकार से लिखा है—

"परमात्मा ने इस मन्त्र द्वारा बतलाया है कि ऋषि लोग अपने आपको पामरों से अच्छा समझते हों तो यह उनकी भूल है। यदि वे विद्या से बढ़कर सत् विद्या को प्राप्त करेंगे तो उन्हें अविद्या के उपासकों से भी अधिक दुःख होगा ?" (मन्त्र ९)।।

इसी प्रकार वे ११वें मन्त्र के व्याख्यान में विद्या और अविद्या के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

"जिस प्रकार अविद्या दुःख का कारण है उसी प्रकार अनुभूत विद्या भी दुःख का ही कारण है, जो ऐसा जानते हैं वह अविद्या के परित्याग से मृत्यु अर्थात् अज्ञान से बच जाते हैं और अनुभूत विद्या के त्याग देने से इन्द्रियों के विकारों से बचकर समाधि या मुक्ति रूप अमृत का लाभ करते हैं।·········विद्या और अविद्या दोनों प्रकार के ज्ञान से पृथक् होने पर मुक्ति मिलती है················।" (मन्त्र ११) ।।

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज के द्वारा किया विद्या और अविद्या सम्बन्धी सब व्याख्यान ऋषि दयानन्द के व्याख्यान से विरुद्ध है। यहां उन्होंने अविद्या का अर्थ अज्ञान और विद्या का अर्थ ज्ञान किया है। अब विचारना चाहिये कि अविद्या को मृत्यु दुःख से तरने का उपाय तथा विद्या को अमृत प्राप्ति का उपाय वेद द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है। अविद्या=अज्ञान मृत्यु दुःख से पार होने का उपाय कैसे हो सकता है ? अतः यहां प्रकरणानुसार महर्षि ने अविद्या का अर्थ जड़ पदार्थ तथा उसके नाना साधन एवं विद्या का अर्थ चेतन वस्तु तथा उसके साधन उपसाधन अर्थ किया है। इसे यथास्थान वेदभाष्य में खोलकर समझाया गया है पाठक विस्तार से वहाँ पढ़ें।

यदि स्वाध्यायशील पाठक महानुभाव महर्षि द्वारा किये वेदार्थ का अन्य विद्वानों के किये वेदार्थ से तुलना करके अध्ययन करेंगे तो वे ऋषि की गम्भीरता और समाधि द्वारा परमात्मा के स्वरूप में अवस्थित होकर किये वेद मन्त्रों के किये सच्चे अर्थों को जान सकेंगे और भ्रान्ति से सर्वदा दूर रहेंगे।

इसी प्रकार से अपने समय के शास्त्रार्थ महारथी, उच्चकोटि के प्रवक्ता, महामहोपाध्याय श्री पं० आर्यमुनि जी ने भी उपनिषद्भाष्य में जो विद्या और अविद्या की व्याख्या की है सो बड़ी ही रोचक है जो ऋषि की व्याख्या से सर्वथा विरुद्ध एवं अशुद्ध है। वे लिखते हैं—

"अविद्या=विपरीतज्ञान। विद्या=ज्ञान (मं० ९)। कई एक आधुनिक वैदिक जीवन अभिमानी यह अर्थ करते हैं कि विद्या=ज्ञान, अविद्या=ईश्वरोपासना का भिन्न २ फल है।

कोई कहता है कि अविद्या के अर्थ कर्म के हैं और कई एक टीकाकार अनेक प्रकार से भ्रान्त हैं जो वैदिक तत्त्व को न समझ कर नाना प्रकार की विमति उत्पन्न करते हैं। यदि अविद्या के अर्थ कर्म के होते तो इसी उपनिषद् के दूसरे मन्त्र में यावदायुष कर्मों का कर्त्तव्य कथन न किया जाता और विद्या=ज्ञान से भिन्न को अविद्या कहते हैं, इस भाव द्वारा अविद्या से कर्म लिये, जायें तो भी कर्मों का निषेध कैसे ? (मं० १०)

महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास में अविद्या का अर्थ कर्मोपासना किया है। जिसका अज्ञानता वश पं० आर्यमुनि जी जोरदार खण्डन कर रहे हैं।

११वें मन्त्र के व्याख्यान में पं० आर्यमुनि जी ने विद्या और अविद्या के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"जो पुरुष विद्या=यथार्थज्ञान और अविद्या=विपरीत ज्ञान के द्वारा मृत्यु को तर कर अर्थात् निन्दित कर्मों को न करके विद्या=यथार्थज्ञान से मुक्ति को भोगता है"।

वेदमन्त्र में अविद्या को मृत्युतरण का उपाय बतलाया गया है। श्री पं० आर्य-मुनि जी ने अविद्या का अर्थ विपरीत ज्ञान किया है। विपरीत ज्ञान मृत्यु तरण का उपाय कैसे हो सकता है। अतः उन्हें अर्थात् लगाकर व्याख्या करनी पड़ी कि—'निन्दित कर्मों को न करके'। यह तात्पर्यार्थ मन्त्र के किसी भी पद से ध्वनित नहीं होता। अत : मन्त्रार्थ अशुद्ध है। पं० जी आगे लिखते हैं—

"अन्य कई एक आधुनिक यह भी अर्थ करते हैं कि अविद्याम्=कर्म काण्ड से मृत्यु को तर कर विद्याम्=ज्ञान से मुक्ति लाभ करता है।

स्वामी शंकराचार्य ने उक्त मन्त्रों में अविद्या के अर्थ कर्म के लिए हैं। उनको ऐसे अर्थ करना शोभा भी देता था। क्योंकि उनके मत में सम्पूर्ण संसार ही अविद्या में है वास्तव में कुछ नहीं। पर न जाने आजकल के वैदिकों नें शंकर के अर्थ में क्या तत्त्व समझा जो उक्त वेद विरुद्ध अर्थ का अनुसरण किया।

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" (यो० २।५) नित्य में अनित्य, शुचि में अशुचि, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्म बुद्धि अविद्या है। जब योगशास्त्र में स्पष्टतया अविद्या का यह अर्थ है तो फिर शङ्कर मतानुसार अविद्या के अर्थ मानने का क्या कारण ?

यदि यह कहा जाये कि अविद्या के अर्थ कर्मकाण्ड के न किये जायें तो विद्ययाऽ-मृतमश्नुते, इस वाक्य की संगति नहीं हो सकती।

इसका उत्तर यह है कि मिथ्याज्ञान का कार्य होने से यहां जन्म को भी अविद्या कहा और अविद्या से मृत्यु को तरने के अर्थ यह है कि उस देहेन्द्रिय संघात द्वारा मृत्यु को तर कर अर्थात् मृत्युपर्यन्त प्रारब्ध कर्मों के फल का भोग कर फिर तत्त्वज्ञान से मुक्ति को पाता है।

और यदि यह कहा जाय कि अविद्या के परम्परा से चले आये हुये अर्थों को छोड़कर उक्त अर्थ कैसे ठीक नहीं ?

इसका उत्तर यह है कि—सम्भूति के अर्थ परमात्मा के किसने किये हैं और विनाश के अर्थ प्रकृति के किसने किये हैं ?

जब वादी ऐसे उच्छृङ्खल अर्थ करने में साहस करता है तो फिर अविद्या के यथार्थ अर्थ करने में क्यों भयभीत होता है ?" ।

यहाँ श्री शंकराचार्य का खण्डन करते हुये कि अविद्या के अर्थ कर्म के नहीं श्री पं० आर्यमुनि जी ने तनिक भी विचार नहीं किया कि सत्यार्थप्रकाश में ऋषि दयानन्द ने भी अविद्या का अर्थ कर्मोपासना किया है ।

श्री पं० आर्यमुनि जी प्रतिवादी की तरफ से उठाई गई शङ्का का समाधान करते हुये योगशास्त्र प्रतिपादित अविद्या के अर्थ का मण्डन न कर सके और अविद्या-जनित देहेन्द्रिय संघात अर्थ की कल्पना करनी पड़ी तथा अपना प्रथम किया अविद्या का अर्थ छोड़ना पड़ा ।

पुन: स्वय प्रतिवादी की तरफ से शङ्का उठाकर परम्परित अर्थों के खण्डन में लिखते हुये अज्ञानवश ऋषि दयानन्द का खण्डन भी कर गये । और बड़े गर्व के साथ लिखा कि 'विनाश' के अर्थ प्रकृति के किसने किये हैं ? इसका उत्तर है कि ऋषि दयानन्द ने । ऋषि ने ४०।११ में विनाशपद का अर्थ प्रकृति किया है । प्रतिवादी का उत्तर देते हुए श्री प० आर्यमुनि जी ने अविद्या के अर्थ कर्म, और विनाश के अर्थ प्रकृति, इन ऋषि प्रतिपादित अर्थों को उच्छृङ्खल अर्थ बतलाया है ।

जितने भी आर्य विद्वान् द्वारा किये ईशोपनिषद् के भाष्य हमें देखने का अवसर मिला है उसके आधार पर हम नि:संकोच कह सकते हैं कि आर्य विद्वानों ने ऋषि भाष्य को नहीं देखा और यदि देखा भी तो ऋषि के वेदार्थ का आदर नहीं किया। हां ! श्री पं० भीमसेन जी शर्मा द्वारा किया ईशोपनिषद् भाष्य ऋषि भाष्य के अधिक अनुकूल है और उसमें ऋषि के वेदार्थ का सत्कार किया गया है।

हम तुलनात्मक अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि आय विद्वानों द्वारा किये गये वेदभाष्य एवं मन्त्रार्थ ऋषि भाष्य से विरुद्ध अर्थों से भरपूर हैं । यह उल्लिखित विद्या और अविद्या का प्रकरण तो स्थालीपुलाक न्याय से आर्य जनता को सावधान करने के लिये उदाहरण मात्र प्रस्तुत किया है । स्वाध्यायशील आर्य महानुभाव तथा आर्य विद्वान् उक्त सत्य की स्वय परीक्षा कर सकते हैं ।

तात्पय यह है कि इन भ्रान्तियों तथा इस प्रकार के अन्य भी अशुद्ध लेख का कारण महर्षि के वेदभाष्य को न देखना है। यदि आर्य विद्वान् ऋषि के वेदभाष्य का अनुशीलन कर के लिखते तो कदापि ऐसी पर्वत तुल्य त्रुटि न करते । इससे सभी आर्य विद्वानों का इस ओर ध्यान दिया जाता है कि प्रथम महर्षि को समझ कर फिर लेखनी उठाना लेखक और पाठक दोनों के लिये हितकर होगा ।

—:o:—

प्रकाशकीय

महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के मुखपृष्ठ पर लिखा है "अथ सत्यार्थप्रकाशः, वेदादिविविध-सच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः"। सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में भी ऋषि लिखते हैं—"वेदादिसच्छास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ।······मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है"।

इसी उपरिलिखित तथ्य के अनुसार ही महर्षि ने अपने ग्रन्थों की रचना की है। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में प्रकाशित सभी विचार वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से परिपुष्ट हैं। महर्षि अपने वेदभाष्य के विषय में भी स्वयं लिखते हैं—

(क) "मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता और उन्हीं पर मेरा विश्वास है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुल जायेगा" (भ्रान्ति निवारण पृ० ४)।

(ख) "मेरा वेदभाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाण युक्त बनता है" (भ्रान्ति निवारण पृष्ठ ५)।

इसी प्रकार के विचार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में महर्षि ने बहुत स्थानों पर प्रकट किये हैं।

महाभारत काल तक केवल वैदिक धर्म ही था। वेदार्थ के सम्बन्ध में भी कोई मतभेद नहीं था। एक ही शिक्षा थी। वेदादि सत्यशास्त्रों की अप्रवृत्ति होने के समय में वाममार्गी आदि मतमतान्तर वालों ने ऋषि मुनियों के ग्रन्थों में सहस्त्रों प्रक्षेप किये जैसे यज्ञों में हिंसा, व्यभिचार आदि का उल्लेख। बहुत से परस्पर विरोधी पुराण आदि ग्रन्थ ऋषि मुनियों के नाम पर निर्माण किये। प्रत्येक शास्त्र के स्थान पर बहुत से विरुद्ध ग्रन्थ निर्माण किये जैसे तर्कसंग्रह आदि। शास्त्रों की अनेक अशुद्ध टीकायें की गईं जैसे साँख्यदर्शन के टीकाकारों ने परम आस्तिक महर्षि कपिल को नास्तिक सिद्ध किया। जैन, मुसलमान आदि मतवादी लोगों ने सहस्त्रों सत्यशास्त्रों को नष्ट कर डाला। सायण, महीधर आदि वेदभाष्यकारों ने वेदों के मिथ्या अर्थों के द्वारा वेदों का तिरस्कार किया।

प्राचीन पद्धति से वेदादिसच्छास्त्रों का पठन-पाठन समाप्त हुआ। वेदादि सत्यशास्त्रों का सत्य विज्ञान चारों ओर से अविद्या के अन्धकार से आच्छादित हो गया। जिस अन्धकार में सत्य विज्ञान का पता चलना असम्भव हो गया था। ऐसे भीषण काल में भी जिन महाशयों ने वेदादिसच्छास्त्रों की रक्षा की उनकी महर्षि दयानन्द ने प्रशंसा की है। इस युग में लुप्त हुये सत्यविज्ञान को महर्षि ने अपने अनुपम ब्रह्मचर्य के तप से तथा गुरुवर विरजानन्द जी महाराज की शिक्षा एवं परमेश्वर के अनुग्रह से स्वयं जानकर अन्यों को भी जनाया। महर्षि ने लुप्त हुये सत्य विज्ञान को पुनः प्रकाशित करने की कठिनाई को स्वयं अनुभव करते हुये सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"विज्ञान गुप्त हुए का पुनर्मिलन सहज नहीं है"।

दुर्भाग्य की बात है कि इस समय भी वेदादि-सच्छास्त्रों के विरोधी मिथ्याग्रन्थों का पठन-पाठन बहुत अधिक मात्रा में है। मिथ्या ग्रन्थों के संस्कार वेदादि सच्छास्त्रों के समझने में बाधक हैं। सत्य विज्ञान को आच्छादित करने वाले सहस्रों ग्रन्थों के प्रचार वाले इस युग में महर्षि के ग्रन्थों के द्वारा ही वेदादिशास्त्रों को समझा जा सकता है। अन्य कोई उपाय सम्भव नहीं।

महर्षि ने 'वेदविरुद्ध मत खण्डन' ग्रन्थ में मनु के 'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते' श्लोक का प्रमाण देते हुये लिखा है—"सत्योपदेष्टा गुरू तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं। यदि कहो हैं तो तुम्हारा कहना असङ्गत है क्योंकि तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है। धर्मशास्त्र में कहा है कि अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं उनके लिये ही धर्मज्ञान का विधान है"।

इस उल्लिखित ऋषियों के वचन से यह स्पष्ट है कि अर्थ और काम में न फंसा हुआ विद्वान् ही वेदवेत्ता हो सकता है। साक्षात्कृतधर्मा विद्वान् ही वेदार्थ को यथार्थ समझकर अन्यों को समझा सकते हैं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पठन-पाठन विषय में ऋषि ने लिखा है—"मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये व्याकरण-अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिकोष, गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टु-निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग; मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, साँख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के अथवा जिन्होंने इन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य-सत्य वेदव्याख्यान किये हों उनको देखके वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें"।

महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र भाग २ पृष्ठ १८६ देवेन्द्रनाथकृत में लिखा है—"वेदों में पाप का क्षमा होना कहीं भी नहीं लिखा। आश्चर्य यह है कि अंग्रेजी जानने वाले भी वेदार्थ का निर्णय करेंगे"। लिखित शास्त्रार्थ बरेली में यह वाक्य महर्षि ने कहे।

महर्षि दयानन्द के इस लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अल्पज्ञानी, अर्थ-कामों में आसक्त एवं अतपस्वी लोगों का वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से रहित, अपनी कल्पना से किये वेदों के सब अर्थ साध्य कोटि में ही समझने चाहियें। अर्थात् उन्हें सन्देह-रहित नहीं कहा जा सकता। इसलिये ईश्वरीय ज्ञान वेदों के सच्चे अर्थों को साक्षात्कृतधर्मा महर्षि लोगों द्वारा किये गये वेद-व्याख्यानों से समझें और मनुष्य जन्म को सफल बनावें। मनुष्यकृत वेदभाष्यों के अध्ययन में वृथा समय न गंवावें।

अपने वेदभाष्य के विषय में महर्षि ने स्वयं इस प्रकार लिखा है—

(क) "जब मेरा वेदभाष्य पूर्ण हो जायेगा तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जायगा कि मेरे सब सिद्धान्त वेदानुकूल हैं" (भ्रान्तिनिवारण पृष्ठ ३)।

(ख) "परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देखने को मिला कि वेदभाष्य पूर्ण हो जाये तो निस्सन्देह आर्यावर्त देश में सूर्य का सा प्रकाश हो जायेगा कि जिसके मेटने और झापने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आ जावे तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जायेगा। (भ्रान्ति निवारण पृष्ठ ३)।

थियोसोफीकल सोसाइटी सभा के सदस्यों के पत्र के उत्तर में महर्षि ने लिखा था — "आप जिस शिक्षा को मुझ से ग्रहण करना चाहते हैं वह परमार्थ और व्यवहार विषय के भेदों से बहुत बड़ी है; पत्र द्वारा लिखी नहीं जा सकी। संक्षेप से मेरे रचे ग्रन्थों में लिखी है। विस्तार से तो वेदादि शास्त्रों में है"। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है जैसे पहाड़ का खोदना और कौड़ी का लाभ होना और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है जैसे एक गोता लगाना और बहुमूल्य मोतियों का पाना"। चाणक्य राजसूत्र में कहा है – "कार्यबहुत्वे बहुफलमायतिकं कुर्यात्" अर्थात् अनेक कार्य सामने होने पर अधिक फल देने वाले कार्य को करे। श्री भर्तृहरिजी ने व्याख्यापूर्वक कहा है "कार्य करने के लिये जीवनकाल बहुत कम है" अतः उपरोक्त वचनों द्वारा दर्शाये तथ्य को दृष्टि में रखते हुए अपने जीवन के बहुमूल्य समय को ऋषि का भाष्य जो अन्य ऋषियों के भाष्यों के प्रमाणों से युक्त है उसके अध्ययन में लगाकर वेद के सत्यार्थ को जानने योग्य है।

कल्पितार्थ अनार्ष भाष्यों से तो मिथ्यार्थ के संस्कार भी अवश्य पड़ेंगे अतः उनका अध्ययन तो महर्षि की सम्मति अनुसार विषसम्पृक्त अन्नवत् अन्य अनार्ष ग्रन्थों की भांति ही त्यागना उचित हैं।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की महत्ता का कथन करते हुए भी प्रायः आर्य सभासद् एवं आर्य विद्वान् भी इस वास्तविकता को 'लेकिन' शब्द लगाकर ढक देते हैं और आचरण में नहीं लाते। मिश्री, मिश्री कहने से मुँह मीठा कदापि नहीं होता।' महर्षि के वेदभाष्य की महत्ता को स्वीकार कर उसके रस का आस्वादन भी करना परम आवश्यक है।

महर्षि का ऋग्वेद और यजुर्वेद का भाष्य $\frac{२०'' \times २६''}{८}$ के साइज में ११९७३ (ग्यारह सहस्र एक सौ तिहत्तर) पृष्ठों में है। महर्षि ने सत्य वेदभाष्य करके मानव जाति पर महान् उपकार किया है। अतः आर्य जनों का कर्तव्य है कि ऋषि के वेदभाष्य का अध्ययन करें तथा सत्य विद्याओं का प्रकाश प्राप्त करके अपने परम धर्म का पालन करें और अपने इहलोक और परलोक का निर्माण करें।

सभी स्वाध्यायशील आर्यजनों को निश्चय करना चाहिये कि पहले ऋषि का सम्पूर्ण वेदभाष्य पढ़कर ही अन्यों के वेदभाष्य पढ़ने का विचार करें। श्री पं० गुरुदत्त जी 'विद्यार्थी' ने जो अत्यन्त मेधावी थे, महर्षि के सत्यार्थप्रकाश को चौदह बार पढ़कर यह लिखा था कि जब-जब मैं इस ग्रन्थ को पढ़ता हूँ तब-तब नई-नई बातें ही मुझको मिलती हैं। इसमें कुछ भी सन्देह

नहीं कि ऋषि के वेदभाष्य को भी अनेक बार पढ़ने से पाठकों को अवश्य अमूल्य रत्न मिलते रहेंगे।

'वेदभाष्य विबोध' के लेखक श्री पं० सुदर्शनदेव जी आचार्य एम०ए० ने ऋषि के वेदभाष्य को समझाने में जो बड़े पुरुषार्थ से विद्वत्तापूर्ण प्रशंसनीय कार्य किया है उसके लिये मैं उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ। इस ग्रन्थ की प्रेस कापी को श्री पं० जगदेवसिंह जी शास्त्री 'सिद्धान्ती' ने देखा एवं हमें उत्साहित करते हुये यथास्थान टिप्पणियाँ भी दीं। इसके लिये मैं श्री श्रद्धेय सिद्धान्ती जी का भी धन्यवाद करता हूँ।

यह वेद के एक अध्याय का 'महर्षि वेदभाष्य विबोध' पाठकों की सेवा में नमूने के रूप में प्रस्तुत किया है। पाठकों से निवेदन है कि इस पर अपनी सम्मति एवं सुझाव भेजने की कृपा करें। जो स्वाध्यायशील आर्य महाशय इस प्रकार के महर्षि के सम्पूर्ण वेदभाष्य का विबोध खरीदने के इच्छुक हों वे भी कृपया सूचित कर अनुगृहीत करें। जिससे महर्षि के सम्पूर्ण वेदभाष्य के विबोध—लेखन का कार्य सुचारु रूप से प्रारम्भ किया जा सके।

दीपचन्द आर्य
प्रधान आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२-एफ कमलानगर, दिल्ली-७।

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के प्रकाशन

शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

सत्यार्थप्रकाश (स्थूलाक्षर)

कागज सफेद ३१ पौंड, $\frac{२२'' \times ३०''}{८}$ साइज, टाइप नया २० प्वाइंट एवं प्रमाण भाग २४ प्वाइंट, सुन्दर छपाई। द्वितीय संस्करण के अनुसार।छप रहा है लगभग २ मास तक मिल जायेगा।

महर्षिलघुग्रन्थसंग्रह

इसमें महर्षि रचित, १—वेद विरुद्ध मतखण्डन, २—वेदान्तिध्वान्तिनिवारण, ३—शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण, ४—वेदभाष्य के नमूने का अङ्क, ५—भ्रान्ति निवारण, ६—पञ्चमहायज्ञविधि, ७—आर्योद्देश्यरत्नमाला, ८—व्यवहारभानु, ९—भ्रमोच्छेदन, १०—अनुभ्रमोच्छेदन, ११—गोकरुणानिधि इन ग्यारह ग्रन्थों का संग्रह है। ये सब ग्रन्थ ऋषि के जीवनकाल में छपे ग्रन्थों से मिलान कराये गये हैं एवं ये सुयोग्य विद्वान् से सम्पादित हैं।

प्रमाणसूची (ले० सुदर्शनदेव आचार्य)

ऋषि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश से लेकर वेदभाष्य पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रन्थों तथा समस्त जीवन चरितों, पत्र व्यवहार, उपदेश और शास्त्रार्थों में उद्धृत वेदादि ग्रन्थों के क्रम से तथा मतवादियों के ग्रन्थों के अप्रमाण वचनों की पृथक्-पृथक् ग्रन्थ के नाम उल्लेख पूर्वक बड़े पुरुषार्थ से यह सूची तैयार की गई है। इसकी सहायता से स्वाध्याय शील आर्य विद्वान् किसी भी प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक वचन का ऋषिकृत व्याख्यान बड़ा सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।

आर्ष सन्ध्या हवन पद्धति (ले० सुदर्शनदेव आचार्य)

इसमें ऋषि ग्रन्थों में विद्यमान सन्ध्या तथा हवन की विधि तथा मन्त्रार्थों के ऋषि वचनों का बड़ी योग्यता पूर्वक विबोध करवाया गया है। विशेष वक्तव्यों द्वारा विषय को खोला गया है। प्रत्येक मन्त्र के साथ आर्यभाषा में कविता देकर ऋषि के मन्त्रार्थ का रसास्वादन करवाया गया है।

सम्मति

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित यजुर्वेद भाष्य के ४० वें अध्याय पर गुरुकुल झज्जर के सुयोग्य स्नातक श्री पं० सुदर्शनदेव जी द्वारा लिखी "विबोध" नामक व्याख्या देखी। लेखक ने पुस्तक की भूमिका में वेदभाष्य करने का अधिकार तथा मन्त्र के ऋषि का मन्त्रार्थ पर प्रभाव आदि विषयों पर विद्वानों के लिये बड़ी ही महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त "विबोध" नामक व्याख्या में किया सभी कार्य अवश्य प्रशंसा के योग्य है। यह पुस्तक सभी आर्य विद्वानों तथा स्वाध्यायशील सज्जनों के लिये बड़ा ही उपयोगी है।

आचार्य भगवान देव गुरुकुल झज्जर रोहतक

सम्मति

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय पर "भाष्य विबोध" नामक पुस्तक देखने को मिला। "भाष्य विबोध" यह एक समस्त पद है, जो भाष्य और विबोध इन दो शब्दों से मिल कर बना है। 'भाष्य' शब्द से यहाँ महर्षि दयानन्द का भाष्य ग्रहण किया है और 'विबोध' से श्री पण्डित सुदर्शनदेव आचार्य सम्बन्ध रखते हैं। तब अब 'भाष्य विबोध' से तात्पर्य हुआ– महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा किये गये यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का ऐसा बोध, जिसमें वैविध्य एवं वैशिष्टय लिये हुवे विशुद्ध ज्ञान समाया हुआ हो।

सचमुच विद्वद्वरेण्य ने इसे ऐसा ही बनाने का प्रयास किया है, जो स्तुत्य है। वे इसमें बहुत सफल हुये हैं।

महर्षि दयानन्द का भाष्य साधारण नहीं है। यह अनुक्रमिक पठन–पाठन से समझ में आता है अथवा वे महानुभाव इसे हृदयङ्गम कर सकते हैं, जिन्होंने अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करते हुवे वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन किया हो।

जो गम्भीर विद्वान हैं, वे देव दयानन्द के भाष्य की प्रशंसा करते हैं, जो अधकचरे हैं, वे इसे ऊल जलूल समझते हैं। अतः आवश्यक्ता थी–इन अपरिपक्व पण्डितों के अन्धकार को दूर करने की तथा उनका भी संशय मिटाने की, जो श्रद्धाभरित अन्तष्करण से ऋषि दयानन्द के भाष्य को पढ़कर अपने ज्ञान–कोष को भर रहें हैं

मेरी सम्मति में विद्वद्वर्य श्री सुदर्शन देव आचार्य ने यही कार्य किया है, जो मुझे भाता है। ऋषियों में गहन निष्ठा रखने वाले एक व्यक्ति से यही आशा की जा सकती है, कि वह उनकी विशुद्ध सरणि को अक्षुण्ण बनाए रक्खे। पण्डित शिरोमणि ने भाष्य का एक–एक शब्द ऐसा स्पष्ट कर दिया है कि कहीं भी किसी को भ्रान्ति रहने न पावे। अद्वैतवाद के पोषक श्री शङ्कराचार्य जी के सिद्धान्तों की अवास्तविकता का भी इस भाष्य विबोध में परिचय कराया है।

इस भाष्य विबोध के प्रकाशक श्री लाला दीपचन्द जी आर्य हैं, वे अन्तरात्मना महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों का ही प्रचार चाहते हैं और उनके ही ग्रन्थों का स्वयं स्वाध्याय भी करते हैं। उनके ऐसा करने का कारण यह है कि उनकी सम्पूर्ण समस्याएं ऋषि ग्रन्थों से ही समाधान पाती रहती हैं, फिर वे अन्य अनार्ष ग्रन्थ पढ़कर विपरीत ज्ञान लपेटना और जीवन के अमूल्य क्षणों को क्षीण करना नहीं चाहते। इसलिये उनकी योजना है कि ऋषि दयानन्द के भाष्य को सुगम किया जावे, जिससे सर्व साधारण लोग भी उनके प्रमाणिक अर्थों की सत्यता को जाने और अनार्ष टीकाओं से उत्पन्न भ्रान्तियों से बचें एवं वेद के पठन–पाठन रूप परम धर्म का पालन करें।

वेदानन्द वेद वागीश
प्रस्तोता
श्रीमद् दयानन्द आर्ष विद्या पीठ
कार्यालय—गुरुकुल झज्जर (रोहतक)

❀ ओ३म् ❀

महर्षि वेदभाष्यविबोध

(यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के महर्षि दयानन्दकृत भाष्य की व्याख्या)

लेखक :— सुदर्शनदेव आचार्य एम० ए०

प्रकाशक :—

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २, एफ कमलानगर, दिल्ली-७

मवार
०० प्रति

दयानन्दाब्द
संवत् २०२५ वि०

अजिल्द
मूल्य १)

वेद है कल्याणी वाणी सर्वज्ञ भगवान् की ।
जिसके अर्थ ज्ञान में है पहुँच अनूचान की ॥१

करके उसका साक्षात् ऋषि दयानन्द ने ।
सत्य का प्रकाश किया पड़े थे सब अन्ध में ॥२

विश्व भर को आर्य करना वेद का आदेश है ।
पढ़ो वेद जानो ब्रह्म 'दयानन्द संदेश' है ॥३

सम्मति

ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य के ४० वें अध्याय पर आर्य समाज के युवक प्रौढ विद्वान् पं० सुदर्शनदेव जी आचार्य एम० ए० ने महर्षि वेदभाष्य विबोध लिखा है इसमें ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य की सर्वाङ्गपूर्ण अनेक बातों पर उत्तम प्रकाश डाला है। प्रत्येक मन्त्र के भाष्य की संगति अच्छे ढगं से की है। विबोध में ऋषि के पदार्थ, अन्वय और भावार्थ को ही एक भी अक्षर बदले बिना आधार रूप में रखकर भावार्थ की सुयोजना की गई है। मैंने इस विबोध को आद्योपान्त पढ़ा है। मैं समझता हूँ कि ऋषि दयानन्द के भावों को अच्छे प्रकार खोला गया है। इस ग्रन्थ में वेदभाष्य करने वालों के और पढ़ने वालों के लिये अनेक उपयोगी प्रकरण लिखे हैं। पुस्तक सर्वदा उपादेय है। मान्य विद्वान् और केवल आर्य भाषा जानने वाले स्वाध्यायशील महानुभाव दोनों एक समान इससे लाभ उठा सकते हैं। लेखक को
देता हूँ।

पुस्तक के प्रकाशक श्री दीपचन्द जी आर्य प्रधान आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट हैं। यह ट्रस्ट महर्षि कृत ग्रन्थों के प्रचार के लिये बना हुआ है। ट्रस्ट ने इसका भी प्रकाशन करके आर्य समाज के साहित्य में एक उत्तम देन दी है। मैं इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक

जगदेवसिंह सिद्धान्ती, शास्त्री दिल्ली

भूमिका

वेद महिमा

संसार में प्रत्येक प्राणी दुःख से छूटकर सुख को प्राप्त करना चाहता है। अल्पज्ञ मानव क्षणिक सुख की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न नित्यप्रति करता रहता है। परम आनन्द की प्राप्ति के उपाय से अनभिज्ञ होने के कारण जीवन भर इधर उधर भटकता रहता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज सत्यार्थप्रकाश नवम् समुल्लास में लिखते हैं—"पवित्र कर्म पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषण आदि कर्म, पाषाण मूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है"।

यहाँ महर्षि ने यह बतलाया है कि पवित्र ज्ञान मुक्ति अर्थात् परम आनन्द प्राप्ति का उपाय है। पवित्र ज्ञान ही पवित्र कर्म और पवित्र उपासना का आधार है। संसार में सबसे पवित्र ज्ञान वेद है क्योंकि यह पवित्र परमात्मा की देन है। इसमें प्रमाण—"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (यजु० ४०। ८)। अर्थात्—स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर प्रजा के कल्याण के लिये वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।

इसके अतिरिक्त वेद ईश्वर का पवित्र ज्ञान है इसमें महर्षि ने यह युक्तियां दी हैं।

(क) "जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध गुण कर्म स्वभाव, न्यायकारी, दयालु, आदि गुण वाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत अन्य नहीं।"

(ख) "और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त......इस प्रकार के वेद हैं।"

(ग) "जैसे माता पिता अपने सन्तानों पर कृपा दृष्टि कर उन्नति चाहते हैं वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है। जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार, भ्रमजाल से छूटकर विद्या विज्ञान रूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें अतः प्रभु की इस महती दयालुता का लाभ प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण प्रयत्न के साथ अवश्य ही उठाना चाहिये। इस कार्य को अपने जीवन में परम आवश्यक समझना चाहिये। इसीलिये महर्षि ने आर्यसमाज के तीसरे नियम में लिखा कि "वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

(घ) गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्त अनुदात्त आदिस्वर के ज्ञान पूर्वक गायत्र्यादि छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के बिना किसी का सामर्थ्य नहीं कि इस प्रकार का सर्वज्ञान युक्त शास्त्र बना सके।

(ङ) वेदों को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त, छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं।

(च) ब्राह्मण, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, उपवेद आदि सब वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। अतः मूल वेद हैं। अन्य सब उसी का फल हैं। अतः वेद स्वतः प्रमाण हैं अन्य सब परतः प्रमाण हैं।

(छ) जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे तो कोई भी कुछ भी न बना सके। इसलिये वेद परमेश्वरोक्त हैं।

सभी प्राचीन ऋषि महर्षि विद्वान् वेदों के सामने नतमस्तक हैं। वेदों के सम्बन्ध में उनकी सम्मति निम्न प्रकार है—

मनुस्मृति में वेद की महिमा इन्हीं शब्दों में गाई गई है—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्य यथाकालमतन्द्रितः।

अर्थात् प्रत्येक आर्य का यह कर्त्तव्य है कि वह आलस्य को छोड़कर नियम पूर्वक निश्चित समय पर नित्यप्रति वेद का स्वाध्याय किया करे। यही आर्यों का परम धर्म है। इसके विपरीत जो आर्य वेद का अध्ययन नहीं करते उनकी मनु ने घोर निन्दा की है। वे लिखते हैं—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ मनु० २। १६८।

अर्थात् जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्य अनार्ष ग्रन्थों में पुरुषार्थ करता है वह जीता हुआ ही शूद्र बन जाता है। इस प्रकार सभी शास्त्रों में वेदाध्ययन की महिमा गाई गई है।

"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (वैशेषिक० ६।१।१)

अर्थात् वेद में सम्पूर्ण रचना बुद्धिपूर्वक है।

महर्षि कणाद लिखते हैं—"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" (वैशेषिक १।१।३)। अर्थात् वेद ईश्वरोक्त हैं। इनमें सब सत्य विद्या और पक्षपात रहित धर्म का ही प्रतिपादन है। अतः मैं वेदों को प्रमाण मानता हूं

महर्षि गोतम लिखते हैं—"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्" (न्याय० २।१।६७)। इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने लिखा है—"सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य और प्रामाणिक मानते आये हैं। वे आप्त प्रामाणिक हैं क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा, कपट छल आदि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख के लिये सत्य का उपदेश करने वाले हैं। जिसमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता। उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया

है," (ऋग्वेदादि० वेदनित्य०)। महर्षि गोतम ने न्याय दर्शन के द्वितीय अध्याय में इस तथ्य को सिद्ध किया है कि वेद अनृतव्याघात पुनरुक्त दोषों से रहित हैं।

महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (योग० १।२६)। इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"जो प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुये थे उन से लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं, इन सब का गुरु परमेश्वर ही है। वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है .... ।

जिस प्रभु में अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के द्वारा रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये" (ऋग्वेदादि० वेदनित्य०)॥

महर्षि कपिल लिखते हैं—"निजशक्त्यभिव्यक्ते स्वतः प्रामाण्यम्" (सांख्य ५।५१)। अर्थात् परमात्मा की ज्ञानशक्ति वा विद्याशक्ति से वेद प्रकट हुये हैं अतः वेद स्वतः प्रमाण हैं।

श्री कृष्णद्वैपायन व्यास मुनि लिखते हैं—"शास्त्र योनित्वात्" (वेदान्त०१।१.३) इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, प्रदीप के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले हैं। उनका बनाने वाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञ गुण युक्त इन वेदों को बना सके ऐसा सम्भव कदापि नहीं हो सकता। किन्तु वेदार्थ विस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से, अन्य शास्त्र बनाने का सम्भव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है। उनमें विद्या के एक २ देश का प्रकाश किया है। वे भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं। और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं उनको सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है। किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है। अन्यथा नहीं।" (ऋग्वेदादि० वेदनित्य०)॥

वेद स्वतः प्रमाण हैं--

ऋषि महर्षि आप्त विद्वानों द्वारा बनाये सब शास्त्र परतः प्रमाण हैं। केवल चारों वेद ही स्वतः प्रमाण हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती इस विषय में लिखते हैं—"वेद ईश्वर के रचे हुये हैं और ईश्वर सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्ति वाला है। इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और स्वतः प्रमाण के योग्य है और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं होते क्योंकि वे सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् के रचे हुये नहीं। इसलिये उनका कहना स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता। ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेद विषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहां सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रिया वाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही वेद भी अपने

प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो २ ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण या स्वीकार करने योग्य नहीं होते। यदि वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो तो तब भी वेद अप्रमाण के योग्य नहीं हो सकते क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाण युक्त हैं।" (ऋग्वेदादि० ग्रन्थप्रामाण्य०)

वेदाध्ययन का अधिकार--

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु॥ यजु० २६।२॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—"वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उनके पढ़ाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूँ उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो। क्योंकि यह चारों वेद रूपी वाणी सबका कल्याण करने वाली है। तथा जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूँ वैसे ही सदा तुम भी किया करो। ....वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण वर्ण के लिये है वैसा ही क्षत्रिय, वैश्य पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र अन्त्यज के लिये भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वर प्रकाशित हैं। जो यह विद्या पुस्तक है वह सबका हितकारक है और ईश्वर रचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं, क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिये है। किसी वर्ण विशेष के लिये नहीं। ....। जैसे मुझमें अनन्त विद्या से सब सुख हैं वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा उसको भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा। इस लिये तुम्हें भी वेद विद्या सब के लिये समान रूप से प्रकाशित करनी चाहिये, इसमें कोई भेदभाव नहीं रखना चाहिये।" (ऋग्वेदादि० अधिकारानधिकार०)॥

वेदभाष्य करने का अधिकार

आज यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है कि क्या वेदभाष्य एवं मन्त्रों के अर्थ करने का सबको अधिकार है? इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने निरुक्तकार महर्षि यास्क के वचनों के आधार पर विद्वानों के लिये बहुत ही सुन्दर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। महर्षि यास्क के वचन हैं—"अयं मन्त्रार्थाभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपितर्कतो, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या, न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसोवा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्ये भवति·· ....। तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति" (नि० १३।१२)॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस उल्लिखित महर्षि यास्क वचन की व्याख्या इस प्रकार की है—

"नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः। किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापर सम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः। किं च नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तः करणस्या विदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति। न यावद्वा पारोवर्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽस्युत्तमो विद्वान् भवति, न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति.....................। यः कश्चिदनूचानो, विद्यापारगः, पुरुषोऽभ्यूहति वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्। किं च यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना, पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति। नैतत्केनाप्यादर्तव्यमिति।......। तस्यानर्थयुक्तत्वात्। तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति"

इन मन्त्रों का अर्थ केवल श्रवण मात्र से अथवा शुष्कतर्क से उन्हें अपने प्रकरण से पृथक् करके नहीं किया जा सकता, किन्तु उन मन्त्रों का पूर्वापर सम्बन्ध देखकर प्रकरणानुकूल ही अर्थ करना चाहिये। इन मन्त्रों के अर्थ का प्रत्यक्ष वे लोग कभी नहीं कर सकते जो ऋषि नहीं और तपस्वी नहीं अर्थात् जिनका अन्तःकरण अशुद्ध है तथा जो अविद्वान् है। ....। वेदार्थज्ञ मनुष्यों में भी अधिक विद्यावान् मनुष्य ही प्रशस्त होता है और वही वेदाविरोधी सुतर्क के द्वारा ही मन्त्रों का उपयुक्त अर्थ कर सकता है।...............। यदि कोई पूर्ण विद्वान् पुरुष वेदार्थ का प्रकाश करता है तो वही ऋषि प्रोक्त व्याख्यान समझना चाहिये। और जो अल्प बुद्धि पुरुष करता है वह अनार्ष होता है। उसका किसी को आदर नहीं करना चाहिये।...... ... क्योंकि वह अनर्थ युक्त है। उसका आदर करने से मनुष्यों की भी अनर्थापत्ति होगी।" (ऋग्वेदादि० वेदविषय०)॥

इस महर्षि दयानन्द के लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि वेदभाष्य करने का अधिकार तपस्वी, शुद्ध अन्तःकरण वाले, विद्या से परिपूर्ण साक्षाद् द्रष्टा महर्षियों× को ही है।

×ऋग्वेद १।१।२ के भावार्थ में ऋषि दयानन्द "ऋषि" शब्द के अर्थ में लिखते हैं—

"ये मन्त्रार्थान् विदितवन्तो धर्मविद्ययोः प्रचारस्यैवानुष्ठातारः सत्योपदेशेन सर्वाननुग्रहीतारो निश्छलाः पुरुषार्थिनो मोक्षधर्मसिध्यर्थमीश्वरस्यैवोपासकाः कामार्थसिद्धयर्थं भौतिकाग्ने गुणज्ञानेन कार्यसिद्धिं सम्पादयन्तो मनुष्यास्ते ऋषिशब्देन गृह्यन्ते।"

भाषा में उपयुक्त भाव का अर्थ इस प्रकार लिखते हैं—

"वे सब पूर्ण विद्वान् शुभ गुण सहित होने पर ऋषि कहाते हैं, क्योंकि जो मन्त्रों के अर्थों को जाने हुये धर्म और विद्या के प्रचार, अपने सत्य उपदेश से सब पर कृपा करने वाले निष्कपट पुरुषार्थी मोक्ष धर्म के सिद्ध होने के लिये ईश्वर की उपासना करने वाले होते हैं।"

२—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (प्रश्नोत्तर विषयः)—"(प्रश्नः) वाचोवाण्याः किं फलं भवतीत्यत्राह॥ (उत्तरम्) विज्ञानं तथा तज्ज्ञानुसारेणकर्मानुष्ठानम्। य एवं

तपस्या से रहित, मलिन अन्तःकरण वाले, अल्प विद्या वाले पक्षपाती मनुष्य वेदभाष्य करने का अधिकार नहीं रखते। उनके किये वेदभाष्य दोष रहित न रहने से जनता के लिये अनर्थ का कारण बनते हैं। अतः महर्षि ने स्पष्ट लिख दिया है कि ऐसे मनुष्यकृत वेदभाष्यों का कदापि आदर नहीं करना चाहिये। ऋषियों के किये वेद व्याख्यान सब प्रकार के दोषों से रहित हैं। अतः आर्षवेदभाष्यों का ही सब को अध्ययन एवं सत्कार करना योग्य है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास में भी इस बात पर पूर्ण प्रकाश डाला है कि ऋषि महर्षि लोगों को वेदार्थ का ज्ञान किस प्रकार हुआ। महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"(प्रश्न) वेद संस्कृत में प्रकाशित हुये और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृत भाषा को नहीं जानते थे फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना ?

(उत्तर) परमेश्वर ने जनाया। और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब २ जिस २ के अर्थ की जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुये तब २ परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये।"

महर्षि दयानन्द के इस लेख से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि वेदभाष्य एवं वेद मन्त्रों का अर्थ करने का अधिकार उन्हीं को है जिन्हें परमात्मा का साक्षात्कार हो एवं जो धर्मात्मा योगी महर्षि हों। जो समाधि में स्थित होकर परमात्मा से वेदों के अर्थों को जान सकें।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज की भी यह जीवन-घटना प्रसिद्ध है कि जब महाराज जी पण्डितों को वेद भाष्य लिखाया करते थे जब कभी २ उन्हें मन्त्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता था तब महर्षि एकान्त में जा, समाधिस्थ होकर अभीष्ट मन्त्र का अर्थ अपने आचार्य परमात्मा से समझ आते थे और पण्डितों को लिखवाया करते थे। महर्षि दयानन्द को परमात्मा का साक्षात्कार था। यह बात उनके जीवन तथा उनके अद्भुत लेखों से सिद्ध है। सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ और अन्त में ब्रह्म का प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। महर्षि विद्या में पारङ्गत आचार के आदर्श एवं परमतपस्वी धर्मात्मा योगी थे। परमात्मा के साक्षात्कार से युक्त ऋषि थे। ऐसा ही पवित्र महान् आत्मा वेद का सच्चा भाष्य कर सकता है।

वेदार्थ ज्ञान के लिये महर्षि ने निम्न विचार प्रकट किये हैं—

"मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थ योजना सहित "व्याकरण—अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ, और महाभाष्य" शिक्षा, कल्प, निघण्टु निरुक्त

ज्ञात्वा कुर्वन्ति, त ऋषयो भवन्ति॥" भाषार्थ—(प्रश्न) वाणी का फल क्या है (उत्तर) अर्थ को ठीक ठीक जानके उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है। और जो लोग इस नियम पर चलते हैं वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं।" (जगदेव सिद्धान्ती)

छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग, मीमांसा, वैशेषिक न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक २ जाना जाता है, तथा "ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण," इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के अथवा, जिन्होंने इन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उनको देखके वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें"।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पठन-पाठन विषय वेदार्थ ज्ञान के लिये उपरोक्त सम्पूर्ण पुस्तकों का ज्ञान आवश्यक है। साधारण व्याकरणादि के ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति की अपनी कल्पना से की गई वेद व्याख्या आदर के योग्य नहीं समझनी चाहिये। यह बात ऋषि के वचन से सुस्पष्ट है अतः श्रोता या विद्वान् जिसको भी इन ग्रन्थों का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है वह इन ग्रन्थों के आधार पर की गई वेद व्याख्या को ही पढ़े, पढ़ावे और सुने सुनावे।

महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन महर्षियों के किये वेद-व्याख्यानों का बड़ा ही सम्मान किया है। और उन्हीं के अनुकूल अपने वेदभाष्य की रचना की है। उन्होंने अपने वेदभाष्य सम्बन्धी विषय को प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(प्रश्न) क्यों जी तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो वह पूर्वाचार्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नवीन ? यदि पूर्व रचित भाष्यों के समान है तब तो व्यर्थ है क्योंकि वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं। और जो नया बनाते हो तो उसको कोई भी न मानेगा क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपनी ही कल्पना से बनाना है यह बात कब ठीक हो सकती है ?

(उत्तर) यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्य के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है वह तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ, ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार है। क्योंकि जो २ वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इसमें अपूर्वता है। क्योंकि जो २ प्रामाण्याप्रामण्य विषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिना आये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाण से युक्त यह भाष्य बनाया जाता है।

और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती। और जो २ भाष्य उवट, सायण, महीधर आदि ने बनाये हैं वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो २ इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेद-व्याख्यान बने हैं वे भी अशुद्ध हैं।" (ऋग्वेदादि० भाष्यकरणशंका०)।

मेरा भाष्य उन ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों से युक्त होगा, जिनमें ऋषि, मुनि, महर्षि, महामुनि, आर्यों ने वेद का सत्यार्थ परमात्मा की कृपा से लिखा है क्योंकि बिना सत्यार्थ प्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृति कभी नहीं हो सकती। (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका प्रतिज्ञा विषय)

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषतायें

महर्षि के वेदभाष्य का क्रम

मन्त्रार्थ भूमिकाह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च
पदार्थान्विय भावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः ॥

इस मन्त्र भाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है वह, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्ध पूर्वक योजना और छटा भावार्थ अर्थात मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है, इस क्रम से मन्त्र भाष्य बनाया जाता है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ग्रन्थ संकेताः

१—विषयनिर्देश

महर्षि ने अपने वेदभाष्य में यह शैली स्वीकार की है कि सर्वप्रथम मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द और स्वर का निर्देश किया गया है। इनका निर्देश मूल संहिताओं में भी उपलब्ध है। इस प्राचीन परम्परा को महर्षि ने वेदभाष्य में भी सुरक्षित रखा है। इसके पश्चात् सर्वत्र मन्त्रों के ऊपर अपनी दिव्य दृष्टि से महर्षि ने मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख किया है। जिससे पाठक को सरलतया यह विदित हो जाये कि इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय क्या है। विषय का प्रथम ज्ञान हो जाने पर मन्त्रार्थ के समझने में बड़ी सहायता मिलती है। विषय निर्देश के पश्चात् सस्वर मन्त्रपाठ दिया गया है।

२—पदपाठ

जिस प्रकार मन्त्रों पर अङ्कित उदात्तादि स्वर वेदार्थ के नियामक एवं मन्त्र के अर्थज्ञान में अत्यन्त सहायक हैं इसी प्रकार पदपाठ का भी वेदार्थ के ज्ञान में अपना विशेष महत्त्व है। संहितापाठ से पदपाठ की रचना करना प्रत्येक विद्वान् के वश की बात नहीं है। क्योंकि पदपाठ के लिये मन्त्रार्थ का ज्ञान अपेक्षित है तथा मन्त्रार्थ जानने के लिये मन्त्र के पृथक् २ पदों का परिज्ञान आवश्यक है। अतः महर्षि ने सस्वर मन्त्र पाठ के पश्चात् उस मन्त्र का सस्वर पदपाठ भी दिया है।

३—पदार्थ

पद-पाठ के पश्चात् ऋषि ने मन्त्र में विद्यमान क्रम से पदों का अर्थ लिखा है। यह पदार्थ ही महर्षि के वेदभाष्य का आत्मा समझना चाहिये। महर्षि अपने अगाध,

निर्मल ज्ञान एवं समाधिज परमात्मसाक्षात्कार के आधार पर वेद के पदों का ऐसा अद्भुत अर्थ कर जाते हैं कि विद्वान् देखते ही रह जाते हैं कि अमुक पद का अमुक अर्थ किस प्रकार से हो गया। बड़ी गम्भीरता से विचार करने पर महर्षि द्वारा किया अर्थ समझ में आता है। इस प्रकार ऋषि का अद्भुत ज्ञान विद्वानों को नतमस्तक कर देता है।

महर्षि ने वैदिक पदों के अर्थों की सिद्धि में अष्टाध्यायी, महाभाष्य, उणादिकोष निघण्टु, निरुक्त, ब्राह्मणग्रन्थ आदि के स्थान २ पर प्रमाण दिये हैं। प्रमाणों के आधार पर एक पद के अनेक अर्थ भी दर्शाये हैं।

४—अन्वय

पदार्थ के पश्चात् महर्षि ने मन्त्र का अन्वय दर्शाया है जो मन्त्र के अर्थज्ञान में परम सहायक है। जैसे कि सामान्य लौकिक पद्य के भी ठीक-ठीक अर्थ जानने के लिये अन्वय अपेक्षित है इसी प्रकार मन्त्र अन्वय के ज्ञान के बिना मन्त्रार्थ का परिज्ञान सम्भव नहीं। मन्त्र का अन्वय दर्शाते हुये महर्षि की यह विशेष शैली रही है कि उन्होंने मन्त्र का केवल अन्वय-मात्र ही नहीं किया अपितु अन्वय के साथ-साथ आवश्यकता के अनुसार पदों के अर्थों को भी खोल दिया है। इसके अतिरिक्त अर्थ की संगति के लिये अन्वय में पदों का अध्याहार भी कर लिया है। इससे मन्त्र का अर्थ और अधिक स्फुट हो गया है।

५—भावार्थ

मन्त्र के अन्वय-निर्देश के पश्चात् महर्षि ने मन्त्र के अन्दर निहित भावों को भावार्थ के नाम से प्रकाशित किया है। साधारणतया जब हम ऋषि के भाष्य में भावार्थ को पढ़ते हैं तब कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि मूल मन्त्र की ओर ध्यान न देते हुए अपना मनोवाञ्छित भावार्थ लिख रहे हैं। किन्तु गम्भीरता से मनन करने के पश्चात् यह धारणा मिथ्या सिद्ध होती है और यह तथ्य समझ में आता है कि भावार्थ में प्रकाशित अर्थ महर्षि ने मूल मन्त्र में से ही ग्रहण किये हैं। इस यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के भाष्य विबोध में हमने महर्षि के भावार्थ पर मन्त्र का वह अंश अंकित कर दिया है जिससे महर्षि ने वह वह भावार्थ जहां से ग्रहण किया है। पाठक भाष्य विबोध में इसका प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

६—अध्याय का सार

महर्षि अध्याय के अन्त में सार रूप में अध्याय में आये विषयों का वर्णन करते हैं। साधारण दृष्टि से देखने पर महर्षि का सार रूप में यह विषय-वर्णन मन्त्रों में दृष्टिगोचर सा नहीं होता। गम्भीरता से महर्षि के भाष्य का मनन करने पर वे सभी विषय मन्त्रों में स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। इस यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के भाष्य विबोध में इस विषय को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। महर्षि ने इस ४० वें अध्याय के अन्त में सार रूप में जो विषयमाला लिखी थी उस पर वह वह मन्त्र लिख दिया है जिस मन्त्र से महर्षि ने वह विषय ग्रहण किया है।

७–उत्तर अध्याय की पूर्व अध्याय के साथ संगति

महर्षि सम्पूर्ण अध्याय में वर्णन किये गये विषयों के आधार पर उत्तर अध्याय की पूर्व अध्याय के साथ संगति दर्शाते हैं। महर्षि यास्क लिखते हैं "न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः" (निरुक्त० १३।१२)। जिसकी व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इन शब्दों में की है—"प्रकरणानुकूलतया पूर्वापर सम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः" (ऋग्वेदा०)॥ अर्थात् वेदभाष्य एवं मन्त्रों का अर्थ करते समय भाष्यकार को सर्वप्रथम प्रकरण के विना एवं पूर्व अपर सम्बन्ध के विचार विना किया गया वेदार्थ दोषपूर्ण होगा। अतः महर्षि ने भाष्य करते समय केवल प्रकरण का अध्यान-मात्र ही नहीं रखा है अपितु वेदार्थ के पूर्व अपर सम्बन्ध को अपने भाष्य में दर्शाया भी है। इस यजुर्वेद के ४० वें अध्याय की ३९ वें अध्याय के साथ विद्यमान संगति का स्पष्टीकरण भाष्य विबोध में किया गया है। पाठक अनुशीलन करें।

महर्षि के वेदभाष्य की परिपूर्णता

महर्षि दयानन्द सरस्वती का किया वेदभाष्य सर्वाङ्ग पूर्ण है। क्योंकि इसमें मन्त्र का विषय निर्देश, पदों का अर्थ, मन्त्र का अन्वय, मन्त्र का भावार्थ आदि एक भाष्य में अपेक्षित सभी लक्षण विद्यमान हैं। भाष्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥
संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे॥

जहां मूल में विद्यमान पदों का अर्थ दर्शाया जाये तथा उन पदों के आधार पर मूल का तात्पर्य समझाया जाये उसे भाष्य कहते हैं। और जो बात मूल में संक्षेप से कही गई है उसका विस्तार के साथ वर्णन करना भाष्य कहलाता है।

महर्षि के वेदभाष्य में यह उल्लिखित भाष्य का लक्षण पूर्णरूपेण घटता है। महर्षि ने मन्त्र के पदों का प्रथम अर्थ दर्शाया है और वेद मन्त्र में विद्यमान पदों के आधार पर भावार्थ में मूल का अभिप्राय भी समझाया है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर मूलमन्त्र में निहित संक्षिप्त अर्थ का विस्तृत वर्णन भी किया है। विद्वान्, स्वाध्यायशील पाठक महर्षि के भाष्य को इस भाष्य-लक्षण के अनुसार परीक्षण करके देख सकते हैं।

महर्षि के अतिरिक्त अन्य जितने भी भाष्यकार हैं, उनके किये वेदभाष्य में उक्त भाष्य का लक्षण पूरा नहीं घटता। किसी ने पदों के अर्थ पर अधिक बल दिया है तो कोई भावार्थ के ही प्रकाशन में रत है। वेद में सूत्र रूप में कही वस्तु को खोलकर समझाने का सामर्थ्य तो भाष्यकारों में पाया ही नहीं जाता। अतः महर्षि दयानन्द के

अतिरिक्त अन्यों द्वारा किये गये वेदभाष्य भाष्यलक्षण पर पूरे नहीं उतरते । अतः वे वेदभाष्य अधूरे हैं और महर्षि का किया वेदभाष्य सर्वाङ्गपूर्ण है ।

वेद मन्त्रों पर अन्य ऋषियों द्वारा किये व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थ आदि में उपलब्ध होते हैं । किन्तु जिस विधि से महर्षि दयानन्द ने वेदों का भाष्य किया है उस विधि का अन्य आर्ष भाष्य कोई भी उपलब्ध नहीं होता जिसमें इस प्रकार मन्त्र क्रम से मन्त्रों के अर्थों को संस्कृत और प्राकृत भाषा म साधारण जनता के लिये विना किसी भेदभाव के खोलकर रख दिया हो । आर्यों के लिये यह महर्षि की वेदभाष्य रूपी अनुपम देन है । महर्षि के आगमन से पूर्व भी वेद विद्यमान थे किन्तु मानव जाति उनसे अर्थज्ञान के विना कोई लाभ नहीं उठा सकती थी । वेदों का भाष्य करके महर्षि ने मानव जाति का महान् कल्याण किया है ।

क्या मन्त्र का ऋषि मन्त्रार्थ में सहायक है ?

आजकल कुछ विद्वानों में यह एक धारणा प्रचलित हो गई है कि जिस प्रकार मन्त्र का देवता मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय बनकर मन्त्र के अर्थ को प्रकाशित करता है इसी प्रकार मन्त्र का ऋषि भी अपने यौगिक अर्थ के आधार पर मन्त्र के अर्थ में सहायता प्रदान करता है । अतः मन्त्र का अर्थ करते समय मन्त्र के देवता की भांति मन्त्र के ऋषि को भी अवश्य दृष्टि में रखना चाहिये । इसी धारणा के अनुसार अनेक आर्य विद्वानों ने मन्त्रों की व्याख्या सम्बन्धी ग्रन्थ लिखते समय मन्त्रार्थ में मन्त्र के ऋषि के यौगिक अर्थों का भी उपयोग किया है । इसके अतिरिक्त प्रवचन एवं उपदेशों में भी विद्वान् मन्त्र के व्याख्यान करने से पूर्व देवता की भांति ऋषि का यौगिक अर्थ समझाते देखे गये हैं । और ऋषि के अर्थ का मन्त्रार्थ में पूर्णतः उपयोग करने का प्रयास करते हैं ।

इस युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज से बढ़कर वेद के मर्म को समझाने वाला कोई भी विद्वान् उत्पन्न नहीं हुआ । उनके समान वेदभाष्य भी किसी ने नहीं किया । प्राचीन वैदिक साहित्य का ज्ञाता भी उनसे बढ़कर कोई नहीं हुआ । सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के मन्थन के उपरान्त महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने मन्त्र के ऋषि के सम्बन्ध में जो अपनी सम्मति प्रकाशित की है वह इस प्रकार है—

"ऋषयो मन्त्रदृष्ट्यो मन्त्रान् सम्प्रादुः (निरुक्त) जिस २ मन्त्रार्थ का दर्शन जिस जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस २ मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा जाता है । जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्ता बतलावें उनको मिथ्यावादी समझें । वे तो मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक हैं ।" (सत्यार्थप्रकाश सप्तमसमुल्लास)।

महर्षि की सम्मति स्पष्ट है । महर्षि मन्त्र के ऋषि को उस मन्त्र के प्रथम अर्थ-दृष्टा और उस मन्त्र के अध्यापक मानते हैं । मन्त्रों के सब ऋषि ऐतिहासिक पुरुष हैं । उनका नाम इतिहास की सुरक्षा के लिये एवं पूर्वजों की उक्त स्मृति के लिये मन्त्रों [illegible]—

के साथ लिखा गया है न कि मन्त्र के अर्थ में सहायता प्रदान के लिये। जो विद्वान् ऋषि को मन्त्रार्थ में सहायक मानते हैं उनके पक्ष में निम्न दोष हैं—

१—ऋषि मन्त्रार्थ में सहायक है इस पक्ष के पोषण में कोई आप्त प्रमाण नहीं।

२—मन्त्र का ऋषि किस भांति मन्त्रार्थ में सहायता प्रदान करता है, कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं।

३—यदि ऋषि मन्त्र के देवता के समान मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है तो निरुक्त में देवता पदों के समान ऋषि पदों के निर्वचन भी उपलब्ध होने चाहियें।

४—जैसे बहुत मन्त्रों का एक ही देवता है इसी प्रकार बहुत से मन्त्रों का ऋषि भी एक ही उपलब्ध होता है। क्या वह ऋषि समान रूप से, जितने भी वेद में तत्सम्बन्धी मन्त्र हैं, मन्त्रार्थ में सहायक होगा।

५—बहुत से ऋषि पद अपत्यप्रत्ययान्त हैं जिनमें पिता नाम स्पष्ट है। जो प्राचीन ऋषियों के वंश को स्पष्ट करते हैं। क्या किसी ऐतिहासिक पुरुष का नाम मन्त्रार्थ में सहायक हो सकता है। यदि हां तो महर्षि दयानन्द ने भी अनेक नवीन मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित किया है। कृपया उनके नाम के साथ मन्त्रार्थ की संगति दर्शाने का अनुग्रह करें।

६—क्या महर्षि दयानन्द को इस रहस्य का पता नहीं था। महर्षि ने मन्त्र के ऋषि का मन्त्रार्थ में उपयोग क्यों नहीं किया। क्या महर्षि का वेदभाष्य अपूर्ण है?

भाष्यविबोध×

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन का अधिक समय वेदभाष्य की रचना में लगाया और वेदों का अनुपम भाष्य किया। आर्य भाषा में वेदों के अर्थों को प्रकाशित करने का सर्वप्रथम श्रेय महर्षि दयानन्द को ही है। महर्षि ने साधारण जनता के लाभ के लिये अपने वेद के संस्कृतभाष्य का आर्यभाषा में भी अनुवाद करवाया। किन्तु जिस प्रकार से महर्षि के सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों का प्रचार एवं प्रसार हुआ वैसा उनके किये वेदभाष्य का प्रचार साधारण जनता में न हो सका।

---

१ 'निरुक्त २-३-११—ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श—इत्यौपमन्यवः, तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते॥"
अर्थात् मन्त्र के अर्थ का दर्शन, साक्षात्कार करने से ऋषि होता है। औपमन्यव यही कहता है कि स्तोत्र-मन्त्र और उनके अर्थों का प्रत्यक्ष करने वाला ऋषि होता है। तपस्या करते हुए समाधिस्थ उनको स्वयंभू ब्रह्म—ईश्वर, वेदमन्त्र, वेदमन्त्रार्थ और तज्जन्य सर्वोत्कर्ष प्राप्त होता है। इस स्थल से स्पष्ट है कि ये ऋषि तपस्वी ऐतिहासिक हैं।

× विविधोबोधो विशुद्धो बोधो विशिष्टो बोधो नानाबोधो वा विबोध इति॥

—जगदेवसिंह सिद्धान्ती

वेदभाष्य समझने में एक कठिनाई

इसमें जहाँ अन्य अनेक कारण हैं वहां एक यह भी प्रधान कारण रहा है कि साधारण जनता तो क्या विद्वान् भी ऋषि भाष्य के समझने में कुछ कठिनाई का अनुभव करते रहे हैं। कठिनाई यह है कि स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति मन्त्र में विद्यमान पदों का अर्थ ऋषि के किये 'पदार्थ' नामक सन्दर्भ में पढ़ जाता है। महर्षि ने पदार्थों में व्याकरण के सूत्र निर्देश पूर्वक मन्त्र-पदों की सिद्धियां भी दर्शा दी हैं। पदों के निर्वचन भी अर्थ के साथ-साथ दे दिये हैं। वेद में होने वाले व्यत्ययों का भी यथास्थान उल्लेख कर दिया है। निघण्टु, निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थ आदि के प्रमाण भी पदार्थ के साथ लिख दिये हैं। इससे जिनकी शास्त्रीय योग्यता इतनी नहीं है उन्हें मन्त्रार्थ समझने मे कठिनाई का अनुभव होता है। और जिन्होंने आर्ष पद्धति से विधिपूर्वक आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया है उनको तो ऋषिभाष्य के अध्ययन में अत्यन्त रसानुभूति होती है और ऋषि के ज्ञान सागर का पारावार न देख कर श्रद्धा से मस्तिष्क झुक जाता है।

वेदभाष्य की अध्ययन पद्धति

जो ऋषि भक्त श्रद्धालु आर्यजन जिन्हें आर्ष पद्धति के आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ किन्तु जो महर्षि के शब्दों में ही वेदभाष्य का स्वाध्याय करना चाहते हैं वे यदि व्याकरणसिद्धि एवं निर्वचन आदि भाष्यांश को छोड़कर पदार्थ मात्र पढ़ते हैं तब उन्हें मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ तो ज्ञात हो जाता है किन्तु केवल पदों के अर्थ ज्ञान से वाक्य नहीं बना पाते। जबतक पदार्थ वाक्यार्थ में परिवर्तन न किया जाये तब तक केवल पदार्थ से कोई तात्पर्य ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः ऋषि ने इसका उपाय अन्वय में दर्शा दिया है। मन्त्र के पदार्थ ज्ञान के साथ मन्त्र के अन्वय को समझना चाहिये। जब आपने मन्त्र के पदों का अर्थ भी जान लिया और मन्त्र के अन्वय को भी समझ लिया। अब आप अन्वय पूर्वक मन्त्र-पदों की योजना कीजिये। ऐसा करने से आपके सामने ऋषि के वेदभाष्य में एक सुन्दर वाक्यरचना प्रस्तुत होगी। जिससे आपको मन्त्र का अर्थ सर्वथा स्पष्ट हो जायेगा।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की इस अध्ययन-पद्धति को समझाने की भावना से ही यह 'यजुर्वेदभाष्य (४० अ०) विबोधाङ्क' आपकी सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें मैंने प्रत्येक मन्त्र के ऋषिभाष्य की अन्वयपूर्वक पदार्थ योजना की है। ऋषि का एक पद भी अन्वय और पदार्थ में से नहीं छोड़ा गया है और न कोई एक पद अपनी ओर से बढ़ाया गया है। उक्त योजना मात्र ही की गई है।

अन्वय की रीति से जहां क्रिया के साथ वाक्यरचना पूरी हो गई है वहां वाक्य को पूर्ण विराम दे दिया गया है। और नया वाक्य नये सन्दर्भ से प्रारम्भ किया गया है जिससे भाव समझने में सरलता रहे। इस पद्धति से आप महर्षि के सम्पूर्ण भाष्य का अनुशीलन करें आपको महर्षि का वेदभाष्य अत्यन्त सरल सरस मधुर एवं गम्भीर अनुभव होगा।

वेदभाष्य वा धारावाही भाषार्थ

महर्षि के वेदभाष्य की इस अन्वयपूर्वक पदार्थ योजना में ऋषि भाष्य में आये अध्याहृत पदों को [ ] चतुष्कोण में रखा गया है। मन्त्र के पद ( ) कोष्ठक में दिये गये हैं। ऋषि के संस्कृतभाष्य के साथ-साथ सर्वसाधारण के लाभ के लिये भाषार्थ धारावाही वाक्य योजना में सुसंगत होने से भावार्थ स्वयं बनाया गया है।

वेदभाष्य का भावार्थ विबोध

महर्षि के वेदभाष्य का भावार्थ जो कुछ मनोवांछित सा प्रतीत होता था उसका हमने गम्भीर अनुशीलन करके महर्षि के 'भावार्थ' में विद्यमान जो जो भाव मन्त्र के जिस जिस अंश से ग्रहण किये प्रतीत हुए 'भावार्थ' में मन्त्र वा उतना अंश अपनी समझ के अनुसार कोष्ठक में लिख दिया है। जिससे प्रत्येक पाठक महर्षि के वेदभाष्य के गम्भीर्य को समझ सके और जान सके कि अमुक अमुक भावार्थ मन्त्र के अमुक अंश से झर रहा है।

महर्षि ने वेदभाष्य में कहीं-कहीं मन्त्र में निहित गम्भीर भावों को अर्थापत्ति आदि से भी प्रकाशित किया है। कहीं-कहीं भाष्य में मन्त्र के आधार पर शिक्षा रूप में विशेष भी लिख दिया है सो भी अर्थापत्ति एवं शिक्षा आदि के नाम से भावार्थ में हमने दर्शा दिया है।

अन्यत्र व्याख्यात मन्त्र

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के मन्त्रों को सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में जहाँ-जहां प्रमाण रूप में उद्धृत करके उनकी विशेष व्याख्या की है हमने उस विशिष्ट व्याख्यांश को उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि ग्रन्थ का नाम निर्देशपूर्वक दे दिया है। जिससे महर्षि के उस मन्त्र सम्बन्धी सब भाव एकत्र पाठकों को उपलब्ध हो सकें।

भाष्यनिष्कर्ष

महर्षि ने अपने वेदभाष्य में प्रत्येक मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय दर्शाया है। और अन्त में सम्पूर्ण अध्याय में वर्णन किये गये विषयों का भी उल्लेख किया है। भाष्य निष्कर्ष महर्षि द्वारा दर्शाये मन्त्र के विषयों के एवं प्रत्येक मन्त्र के भाष्यानुसार ही निष्कर्ष भी प्रस्तुत किया है। इससे पाठकों को ऋषिभाष्य तथा मन्त्र के अर्थ को हृदयङ्गम करने में बड़ी सरलता होगी।

विशिष्ट पदार्थ व्याख्या

महर्षि ने वेदभाष्य के पदार्थ नामक सन्दर्भ में यत्र तत्र मन्त्र-पदों का विशि

अर्थ दर्शाया है। उस विशिष्ट पदार्थ के पोषण में हमने व्याख्या लिखी है। जिससे पाठक समझ सकेंगे कि महर्षि के किये मन्त्र-पदों के विशिष्टार्थ बड़े ही विद्वत्तापूर्ण एवं सारगर्भित हैं।

अध्याय के विषयों का विवरण

महर्षि ने अन्त में सम्पूर्ण अध्याय के विषयों का वर्णन किया है। हमने इस विषय वर्णन का विवरण प्रस्तुत किया है कि महर्षि ने अमुक विषय अमुक मन्त्र से ग्रहण करके लिखा है। विषय के साथ ही साथ मन्त्र का उल्लेख कर दिया गया है।

उत्तर अध्याय की पूर्व अध्याय के साथ संगति

महर्षि ने सम्पूर्ण अध्याय के विषयों के आधार पर ४० वें अध्याय की ३९ वें अध्याय के साथ संगति का कथन किया है। उसको हमने यथाशक्ति भाष्यविबोध में समझाने का प्रयास किया है।

यजुर्वेदभाष्य (४० अ०) विषय सूची

यजुर्वेद ४० वें अध्याय के सम्पूर्ण ऋषिभाष्य का अनेक बार पारायण करके यह यजुर्वेद भाष्य (४० अ०) की विषय सूची तैयार की गई है। जिसमें प्रत्येक पाठक भाष्य के विषयों को शीशे के समान देख सकता है। और इसके आधार पर बड़ी सरलता से यह अनुमान लगा सकता है कि जब महर्षि ने केवल १७ मन्त्रों के भाष्य में ही कितने गम्भीर विषयों को किस प्रकार खोलकर रख दिया है। यदि महर्षि के सम्पूर्ण वेदभाष्य का इस विधि से मन्थन किया जाय तो महर्षि के कितने विचार रत्न प्रकाश में आ सकते हैं। यह विद्वानों का परम कर्त्तव्य है कि वे महर्षि के सम्पूर्ण वेदभाष्य का पूरा मन्थन करें और उसमें से अमूल्य विचार-रत्न निकाल कर जहां वे स्वयं लाभान्वित हों वहां विश्व को भी लाभान्वित करें तथा महर्षि की महिमा सुगन्धि को फैलावें।

वेदभाष्य और आर्य विद्वान्

इस भाष्यविबोध में हमने यह भी पुष्ट प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट किया है कि आर्य विद्वानों की पुरानी पीढ़ी ने महर्षि के वेदभाष्य का जितना समादर करना चाहिये था, नहीं किया। वर्तमान दशा तो उससे भी कहीं अधिक शोचनीय है। आज भी महर्षि के वेदभाष्य के प्रति उपेक्षावृत्ति ही दृष्टिगोचर हो रही है, जो अवाञ्छनीय है। निवेदन है कि आर्य विद्वान् महर्षि के वेदभाष्य की महिमा को स्वयं समझें तथा आर्यों को समझावें।

शांकरभाष्य पर एक दृष्टि

प्रस्तुत भाष्यविबोध में ईशोपनिषद् भाष्य के माध्यम से उपलब्ध यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के शांकरभाष्य पर एक दृष्टि डाली गई है उससे विद्वान् महर्षि के वेदभाष्य की सत्यता और शांकर भाष्य के मिथ्यात्व की परीक्षा कर सकते हैं।

विद्वत्समाज से निवेदन

महर्षि के वेदभाष्य को स्वयं समझना तथा समझाना किसी अनुभवी विद्यापारीण महान् विद्वान् का ही कार्य है। किन्तु यथामति इस दिशा में जो इस अल्पबुद्धि ने प्रयास किया है आशा है विद्वत् समाज इसका भी समादर करेगा। और इस प्रयत्न में हुई भूलों को क्षमा न करके मेरा पथप्रदर्शन करेगा। मैं उसे अपने ऊपर महान् अनुग्रह समझूंगा।

॥ इति भूमिका ॥

सुदर्शनदेव आचार्य

॥ ओ३म् ॥

अथ चत्वारिंशाध्यायारम्भः ॥

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥१॥

ईशावास्यमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
अनुष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ मनुष्याः परमात्मानं विज्ञाय किङ्कुर्युरित्याह॥

मनुष्य ईश्वर को जानके क्या करें इस विषय को कहते हैं।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्य त्वं] (यत) (इदम्) प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तम् (सर्वम्) अखिलम् (जगत्याम्) गम्यमानायां सृष्टौ (जगत्) यद् गच्छति तत् (ईशा) ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना (वास्यम्) आच्छादयितुं योग्यं सर्वतोऽभिव्याप्यम् [अस्ति]।

(तेन) (त्यक्तेन) वर्जितेन तच्चित्तरहितेन (भुञ्जीथाः) भोगमनुभवेः।

(किं) (च) (कस्य स्वित्) कस्यापि स्विदिति प्रश्ने वा (धनम्) वस्तुमात्रम् (मा) निषेवे (गृधः) अभिकांक्षीः ॥१॥

भाषार्थ

हे मनुष्य तू (यत्) जो (इदम्) प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त (सर्वम्) सब (जगत्याम्) चलायमान सृष्टि में (जगत्) जड़ चेतन जगत् है वह (ईशा) ईश्वर अर्थात् सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्व शक्तिमान् परमात्मा के द्वारा (वास्य) आच्छादित अर्थात् सब ओर से अभिव्याप्त किया हुआ है।

(तेन) इसलिये (त्यक्तेन) त्यागपूर्वक अर्थात् जगत् से चित्त को हटा के (भुञ्जीथाः) भोगों का उपभोग कर।

(किं च) और (कस्यस्वित्) यह धन किसका है अर्थात् किसी का नहीं अतः किसी के भी (धनम्) वस्तु मात्र की (मा) मत (गृधः) अभिलाषा कर ॥१॥

भावार्थः

(ईशावास्यमदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्)।

ये मनुष्या ईश्वराद् बिभ्यत्ययमस्मान् सर्वदा सर्वतः पश्यति; जगदिमीश्वरेण व्याप्तं सर्वत्रेश्वरोऽस्ति।

(मा गृधः कस्य स्विद्धनम्)

इति व्यापकमन्तर्यामिणं निश्चित्य कदाचिदप्यन्यायाचरणेन कस्यापि किञ्चिदपि द्रव्यं ग्रहीतुं नेच्छेयुः।

(तेन त्यक्तेन, भुञ्जीथाः) ?

ते धार्मिका भूत्वाऽत्र परत्राभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देयुः ॥१॥

भावार्थ

जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हम को सब काल में सब ओर मे देखता है। यह जगत् ईश्वर से व्याप्त अर्थात् सब स्थानों में ईश्वर विद्यमान है।

इस प्रकार उस व्यापक अन्तर्यामी को जानकर कभी भी अन्याय आचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण नहीं करना चाहते।

वे इस त्याग से धार्मिक होकर इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निःश्रेयस रूप फलों को भोगकर सदा आनन्द में रहते हैं।

ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश सप्तमसमुल्लास में भा इस मन्त्र का व्याख्यान किया है। वहां "ईश्वर जगत् का नियन्ता है.....आत्मा से आनन्द को भोग" इतना विशेष लिखा है।

भाष्यनिष्कर्ष

ईश्वर के गुण और कर्मों का वर्णन ॥

ईश्वर सकलैश्वर्य सम्पन्न, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी और जगत् का नियन्ता है। वह सबको सब काल में देखता है।

अधर्मत्याग का उपदेश ॥

हे मनुष्य ! तू सर्वदा उस ईश्वर से डरकर अन्यायाचरण अर्थात् अधर्म का परित्याग कर और न्यायाचरण रूप धर्म से परमात्मा के दिये ऐश्वर्य का उपभोग कर। यह धन किसी का नहीं है अतः लोभ का परित्याग करके धार्मिक बन तथा अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करके अपने आत्मा से आनन्द को भोग और सर्वदा आनन्द में रह।

जगत्याम् । जगत् ।।

इस मन्त्र में 'जगत्याम्' और 'जगत्' शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं किन्तु यहां जगती शब्द सृष्टि का वाचक है। और जगत् शब्द सृष्टि में विद्यमान जड़ और चेतन दोनों पदार्थों का ग्राहक है। ऋषि ने पदार्थ में जगत् का निर्वचन किया है—यद् गच्छति तत्। चेतन तथा प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त सब जड़ पदार्थ गतिशील हैं, अतः जगत् शब्द से कहे गये है।

त्यक्तेन ।।

ऋषि ने इस पद से दो अर्थों का ग्रहण किया है। पदार्थ में लिखा है—'त्यक्तेन वर्जितेन तच्चित्तारहितेन'। त्याग से अर्थात् जगत् से चित्त को हटाकर। मन्त्र के द्वितीय चरण में जगत् का वर्णन है अतः यह अर्थ जगत् से सम्बद्ध है। इस पद से दूसरा अर्थ ग्रहण किया है अधर्माचरण के त्याग से। मन्त्र के तृतीय चरण म धर्माचरण का वर्णन है उसको दृष्टि में रखते हुये उक्त अर्थ किया गया है।

भुञ्जीथाः

इस पद का साधारण अर्थ है—भोग कर। ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होने वाले दो भोग हैं जो धर्माचरण से सिद्ध होते हैं—१ अभ्युदय-ऐहलौकिक सुख २-निःश्रेयस-पारलौकिक सुख। अतः ऋषि ने इस पद से अभ्युदय और निःश्रेयस अर्थ ग्रहण किया है।

— :o: —

कुर्वन्नित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
भुरिगनुष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

अथ वैदिक कर्मणः प्राधान्यमुच्यते ।।

अब वेदोक्त कर्म की उत्तमता बतलाई जाती है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।

संस्कृतार्थः

[मनुष्य] (इह) अस्मिन् संसारे (कर्माणि) धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि (कुर्वन्नेव) (शतम्) (समाः) संवत्सरान् (जिजीविषेत्) जीवितुमिच्छेत् ।

(एवम्) अमुना प्रकारेण [धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने] (त्वयि) (नरे) नयनकर्तरि (न) निषेधे (कर्म) अधर्म्यमवैदिकं मनोरथ सम्बन्धि कर्म (लिप्यते) ।

(इतः) अस्मात् प्रकारात् (अन्यथा) (न) निषेधे (अस्ति) भवति [लेपाभावः] ॥२॥

भाषार्थ

मनुष्य (इह) संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त वेदोक्त, निष्काम कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे ।

(एवम्) इस प्रकार से धर्मयुक्त कर्म में लगे हुये (त्वयि) तुझ (नरे) व्यवहारों के नायक नर में (कर्म) अपने मनोरथ से किये अधर्म युक्त, अवैदिक कर्मों का (न, लिप्यते) लेप नहीं रहता है ।

(इतः) इस वेदोक्त प्रकार से भिन्न (अन्यथा) अन्य प्रकार से कर्म के लेप का अभाव (न) नहीं (अस्ति) है ।

भावार्थः

(कुर्वन्नेवेह कर्माणि)

मनुष्या आलस्यं विहाय सर्वस्य द्रष्टारं न्यायाधीशं परमात्मानं कर्तुमर्हां तदाज्ञां च मत्वा शुभानि कर्माणि कुर्वन्तोऽशुभानि त्यजन्तो ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षे प्राप्योपस्थेन्द्रियनिग्रहेण वीर्यमुन्नीयाल्पमृत्युं घ्नन्तु ।

(जिजीविषेच्छतꣳ समाः)

युक्ताहार विहारेण शतवार्षिकमायुः प्राप्नुवन्तु ।

(एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे)

यथा यथा मनुष्याः सुकर्मसु चेष्टन्ते तथा तथैव पापकर्मतो बुद्धिर्निवर्तते ।

भावार्थ

मनुष्य लोग आलस्य को छोड़कर सबके द्रष्टा न्यायाधीश परमात्मा को और आचरण करने योग्य उसकी आज्ञा को मानकर शुभ कर्मों को करते हुये और अशुभ कर्मों को छोड़ते हुये, ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त करके उपस्थेन्द्रिय के संयम से वीर्य को बढ़ाकर अल्पायु में मृत्यु को हटावें ।

और युक्त आहार विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होवें ।

जैसे जैसे मनुष्य श्रेष्ठ कर्मों की ओर बढ़ते हैं वैसे २ ही पाप कर्मों से उनकी बुद्धि हटने लगती है ।

फलितार्थ:—

विद्याऽऽयु: सुशीलता च वर्धते ।

जिसका फल यह होता है कि विद्या आयु और सुशीलता आदि गुणों की वृद्धि होती है ।

ऋषि ने इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का व्याख्यान 'सत्यार्थप्रकाश' (सप्तमसमुल्लास) में भी किया है । वहां परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहने वालों को महामूर्ख बतलाया है । आलस्य के त्याग और पुरुषार्थ के अनुष्टान के लिये बहुत बल दिया है तथा समझाया है कि पुरुषार्थी एवं उपकार के कार्य करने वाले व्यक्ति का ही परमात्मा सहायक होता है । विषय को उदाहरणों से बहुत स्पष्ट करके समझाया है ।

ऋषि ने 'संस्कारविधि' (गृहाश्रम प्रकरण) में भी इस मन्त्र का व्याख्यान किया है । वहां आलस्य के परित्याग तथा पुरुषार्थी होने के साथ उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की उन्नति करने का विशेष उल्लेख किया है ॥

भाष्यनिष्कर्ष

सर्वदा सत्कर्म का अनुष्ठान आवश्यक है ॥

वेदोक्त कर्म अत्युत्तम हैं । वे ही सत्कर्म एवं निष्काम कर्म कहाते हैं । ईश्वर की आज्ञा है कि मनुष्य आलस्य को छोड़कर जीवन पर्यन्त शुभकर्मों का अनुष्टान करे एवं सत्कर्म करने के लिये रोगरहित दीर्घायु को पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करे । सत्कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक इसलिये है कि आत्मा पर दुष्कर्मों का चढ़ा हुआ लेप एकमात्र वेदोक्त सत्कर्मों के अनुष्टान से ही धुलता है ।

कर्माणि । कर्म ॥

इस मन्त्र में 'कर्माणि' और 'कर्म' इस रूप में कर्म शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है । प्रकरण के अनुसार प्रथम 'कर्माणि' शब्द से श्रेष्ठ कर्मों का ग्रहण किया गया है । क्योंकि मन्त्र के प्रथम चरण में कर्म करने का विधान है । श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्टान का ही परमेश्वर उपदेश करता है । द्वितीय कर्म शब्द से दुष्कर्मों का ग्रहण किया गया है क्योंकि मन्त्र के अन्तिम चरण में कर्म-लेप का वर्णन है । आत्मा पर दुष्कर्मों का लेप ही पतन की ओर ले जाता है । उसको हटाने का एक मात्र उपाय श्रेष्ठ कर्मों का पालन वेद ने बतलाया है । कुछ एक उपादेय श्रेष्ठ कर्मों का तथा हेय दुष्कर्मों का दिग्दर्शन भाष्य में ऋषि ने करा दिया है ।

शतं समा:

इन पदों का सीधा अर्थ है—सौ वर्ष । शास्त्रोक्त मनुष्य की आयु सौ वर्ष है । ऋषि ने भाष्य में सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने के प्रधान साधनों का भी वर्णन कर दिया है । यहाँ सौ वर्ष का तात्पर्यार्थ जीवन काल है ।

—:०:—

असुर्या इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
अनुष्टुप् छन्दः। गन्धारः स्वरः॥

अथात्महन्तारो जनाः कीदृशा इत्याह ॥

अब आत्मा का हनन अर्थात् आत्मा को भूले हुये जन कैसे होते हैं, इस विषय को कहते हैं।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

संस्कृतार्थः

[ये] (लोकाः) लोकन्ते पश्यन्ति ते जनाः (अन्धेन) अन्धकाररूपेण (तमसा) अत्यावरकेण (आवृताः) समन्ताद् युक्ता आच्छादिताः (ये) (के) (च) (आत्महनः) य आत्मानं घ्नन्ति तद्विरुद्धमाचरन्ति ते (जनाः) मनुष्याः [सन्ति] (ते) (असुर्याः) असुराणां प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः (नाम) प्रसिद्धौ (ते) (प्रेत्य) मरणं प्राप्य (अपि) जीवन्तोऽपि (तान्) दुःखान्धकारावृतान् भोगान् (गच्छन्ति) प्राप्नुवन्ति ॥३॥

भाषार्थ

जो (लोकाः) लोग (अन्धेन) अन्धकार रूप (तमसा) अज्ञान के आवरण से (आवृताः) सब ओर से ढके हुये (ये) (के) (च) और जो कोई (आत्महनः) आत्मा के विरुद्ध आचरण करने हारे (जनाः) मनुष्य हैं। (ते) वे (असुर्याः) अपने प्राण-पोषण में तत्पर, अविद्या आदि दोषों से युक्त, लोगों एवं उनके सम्बन्धियों के सदृश पाप कर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध हैं (ते) वे (प्रेत्य) मरने के पीछे (अपि) और जीते हुये भी (तान्) उन दुःख अज्ञान रूप अन्धकार से युक्त भोगों को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः

(असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः, ये के चात्महनो जनाः)

त एव असुरा दैत्या राक्षसाः पिशाचा दुष्टा मनुष्या य आत्मन्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यदाचरन्ति।

वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच एवं दुष्ट हैं, जो आत्मा में और, वाणी में और, तथा कर्म में कुछ और ही करते हैं।

(तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति)

ते न कदाचिदविद्यादुःखसागरादुत्तीर्याऽऽनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति ।

वे कभी अविद्या रूप दुःख सागर से पार होकर आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकते ।

(अर्थापत्तितः)

ये च यदात्मना तन्मनसा यन्मनसा तद्वाचा यद्वाचा तत्कर्मणाऽनुतिष्ठन्ति त एव देवा आर्याः सौभाग्यवन्तोऽखिल जगत्पवित्रयन्त इहामुत्रातुलं सुखमश्नुवते ॥३॥

और जो लोग जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में कपट रहित आचरण करते हैं वे ही देव, आर्य, सौभाग्यवान् जन सब जगत् को पवित्र करते हैं और इस लोक तथा परलोक में अनुपम सुख को भोगते हैं ॥ ३ ॥

ऋषि ने इस मन्त्र का 'व्यवहार भानु' में भी व्याख्यान किया है । वहां असुरों के लिये दुःखदायक देहादिपदार्थों की प्राप्ति तथा देवों के लिये आनन्दयुक्त देहादिपदार्थों की प्राप्ति का विशेष उल्लेख किया है ।

भाष्यनिष्कर्ष

अधर्माचरण की निन्दा

केवल शरीर के पोषण में लगे रहने वाले, अविद्यादिदोषयुक्त, आत्मा में स्थित ज्ञान के विरुद्ध आचरण करने वाले अधर्मात्मा मनुष्य ही दैत्य, राक्षस, पिशाच एवं दुष्ट कहाते हैं । वेद मन्त्र में उनको असुर नाम से पुकार कर उनकी निन्दा की गई है कि वे सदा अविद्यारूपी दुःखसागर में पड़े रहते हैं वे आत्म-हत्यारे कभी भी आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकते ।

आत्मा में स्थित ज्ञान के अनुकूल कहना, मानना एवं आचरण करना धर्माचरण कहाता है । ऐसे धर्मात्मा मनुष्य सौभाग्यशाली, पवित्रात्मा होते हैं और वे ही देव एवं आर्य कहाते हैं जो इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं ।

असुर्याः

ऋषि ने इस पद से दो अर्थ ग्रहण किये हैं—१–असुरों के सम्बन्धी २–असुर (दुष्ट) । ऋषि ने पदार्थ में लिखा है—'असुराणां······इमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः' । असुरों के सम्बन्धी अर्थात् सदृश पापकर्मा लोग । क्योंकि असुर्य सम्बन्ध अर्थ में तद्धितान्त पद है । किन्तु भाव पापी लोगों से ही है अतः भावार्थ में सीधा असुर अर्थ ही ग्रहण कर लिया है और उसको अधिक स्पष्ट करने के लिये दैत्य पिशाच आदि असुर के पर्याय भी लिख दिये हैं ।

आत्महनः

इस पद का अर्थ है आत्मा का हनन करने वाले । आत्मा तो अजर अमर है। उसका हनन संभव नहीं। अतः तात्पर्यार्थ है —आत्मा में विद्यमान ज्ञान के विरुद्ध आचरण करने वाले । ऋषि ने भाष्य में असुरों का लक्षण करते हुये इस पद को खूब खोल कर समझा दिया है ।

वेद मन्त्र में असुरों का लक्षण एवं उनकी निन्दा की गई है किन्तु भाष्य में ऋषि ने अर्थापत्ति से देवों (आर्यों) का लक्षण तथा उनकी स्तुति का भी उल्लेख कर दिया है।

—:o:—

अनेजदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ब्रह्म देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृशो जन ईश्वरं साक्षात्करोतीत्याह ॥

कैसा जन ईश्वर का साक्षात् करता है इस विषय को कहते हैं ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

संस्कृतार्थः

[हे विद्वांसो मनुष्या यद्] (एकम्) अद्वितीयं ब्रह्म (अनेजत्) न एजते कम्पते तदचलत् स्वावस्थायाश्च्युतिः कम्पनं तद् रहितम् ।

(मनसः) मनोवेगात् (जवीयः) अतिशयेन वेगवत् (पूर्वम्) पुरःसर (अर्षत्) गच्छत् [ब्रह्मास्ति] ।

(एनत्) (देवाः) चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा (न) (आप्नुवन्) प्राप्नुवन्ति ।

(तत्) स्वयं (तिष्ठत्) स्वस्वरूपेण स्थिरं सत् स्वानन्तव्याप्त्या (धावतः) विषयान् प्रति पततः (अन्यान्) स्वस्वरूपाद् विलक्षणान् मनोवागिन्द्रियादीन् (अति) उल्लंघने (एति) प्राप्नोति गच्छति ।

भाषार्थ

हे विद्वान् मनुष्यो ! जो (एकम्) अद्वितीय ब्रह्म है वह (अनेजत्) कंपन रहित अर्थात् अपनी अवस्था (स्वरूप) से कभी विचलित नहीं होता ।

वह (मनसः) मन के वेग से भी (जवीयः) अतिवेगवान् (पूर्वम्) सब का अग्रणी, (अर्षत्) सर्वत्र मन से पहले पहुंचा हुआ ब्रह्म है ।

(एनत्) इस ब्रह्म को (देवाः) अविद्वान् अथवा चक्षु आदि इद्रियां (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्त कर सकती हैं ।

(तत्) वह स्वयं तिष्ठत् अपने स्वरूप में स्थिर हुआ अपनी अनन्त व्यापकता से (धावतः) विषयों की ओर भागते हुये (अन्यान्) उसके अपने स्वरूप से भिन्न मन, वाणी, इन्द्रिय आदिकों को (अति) (एति) प्राप्त नहीं होता ।

(तस्मिन्) स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते (मातरिश्वा) मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति प्राणान् धरति वायुः [तद्वद् वर्तमानो जीवः] (अपः) कर्म क्रियां वा (दधाति) [इति जानीत] ॥४॥

उस सर्वत्र व्यापक स्थिर ब्रह्म में (मातरिश्वा) जैसे अन्तरिक्ष में वायु क्रियाशील रहता है वैसे ही जीव (उस ब्रह्म में) कर्म वा क्रिया को धारण करता है, ऐसा जानो ॥४॥

भावार्थः

भावार्थ

(मनसो जवीयः, पूर्वमर्षत्) ।

ब्रह्मणोऽनन्तत्वाद् यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र पुरस्तादेवाभिव्याप्तमग्रस्थं ब्रह्म वर्तते । तद् विज्ञानं शुद्धेन मनसैव जायते ।

ब्रह्म अनन्त है, अतः जहां जहां मन जाता है वहां २ पहले से ही बह्म व्यापक है। उस ब्रह्म का ज्ञान शुद्ध मन से ही होता है।

(नैनद् देवा आप्नुवन्) ।

चक्षुरादिभिर विद्वद्भिश्च द्रष्टुमशक्यमस्ति ।

उसे चक्षु आदि इन्द्रियां और अविद्वान् लोग नहीं देख सकते ।

(अनेजदेकम्, तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति) ।

स्वयं निश्चलं सत् सर्वान् जीवान् नियमेन चालयति धरति च ।

वह स्वयं स्थिर रहता हुआ सब जीवों को नियम से चलाता है और उनको धारण करता है।

(तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्)

तस्यातिसूक्ष्मत्वादतीन्द्रियत्वाद् धार्मिकस्य विदुषो योगिन एव साक्षात्कारो भवति, नेतरस्य ॥ ४ ॥

ब्रह्म के अतिसूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय होने से धार्मिक विद्वान् योगी को ही उसका साक्षात्कार होता है विषयों की ओर भागने वाले को नहीं ।

ऋषि ने इस मन्त्र का द्वितीय चरण ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका (वेद विषयविचार) में उद्धृत किया है। वहां देव शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है—"यहां देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है, । श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन ये छः इन्द्रियां देव कहाती हैं, क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इन से प्रकाश होता है"।

भाष्यनिष्कर्ष

परमेश्वर के अतिसूक्ष्म स्वरूप का वर्णन

परमेश्वर अद्वितीय है अर्थात् उस जैसा संसार में कोई नहीं है। वह कभी भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। वह मन से भी अधिक वेगवान् है। ब्रह्म इतना सूक्ष्म है कि देव अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन भी उसको प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्म सूक्ष्म होने से सर्वाग्रणी, सर्वत्र परिपूर्ण एवं सर्वत्र पहुँचा हुआ है। वह स्वयं स्थिर रहता हुआ सब जीवों को नियम में चलाता है और उनको धारण करता है। जैसे प्राणों का आधार वायु, सूक्ष्म अन्तरिक्ष में क्रियाशील रहता है इसी प्रकार जीव अतिसूक्ष्म ब्रह्म में अपनी क्रिया को धारण करता है। अति सूक्ष्म स्वरूप वाले ब्रह्म को शुद्ध मन वाले धार्मिक विद्वान् योगी ही साक्षात् करते हैं। विषयों की ओर भागने वाले लोग चक्षु आदि इन्द्रियों से उसे कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते।

देवा :

इस मन्त्र में देव शब्द के ऋषि ने दो अर्थ दर्शाये हैं—१. चक्षु आदि इन्द्रियां, २. अविद्वान्। चक्षु आदि इन्द्रियां अपने अपने विषयों का द्योतन=प्रकाशन करने से देव कहलाती हैं—देवो......द्योतनाद्वा (निरुक्त)। देव शब्द लोक में मूर्ख का पर्यायवाची भी प्रसिद्ध है जैसे—देवानां प्रियः=मूर्ख। अतः मन्त्र में प्रकरणवश देव शब्द अविद्वान् अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

अपः

ऋषि ने अपः शब्द का अर्थ कर्म वा क्रिया किया है। 'अपः' शब्द निघण्टु में कर्म-नाम में पठित है।

मातरिश्वा

मातरिश्वा शब्द वायु अर्थ में प्रसिद्ध है किन्तु ऋषि ने तत्साम्य से यहां जीव अर्थ में ग्रहण किया है। ऋषि भाष्य में लिखते हैं—"मातरिश्वा=मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति प्राणान् धरति वायुस्तद्वद् वर्तमानो जीवः"। जैसे अन्तरिक्ष में रहने से वायु मातरिश्वा कहलाता है इसी प्रकार जीव ब्रह्म में रहने से उसका नाम भी मातरिश्वा है। ब्रह्म उसकी माता है वह अपनी माता ब्रह्म के सहाय से रहता है। इसीलिए भाष्य में ब्रह्म को जीवों का नियामक और धारक कहा गया है।

—:०:—

तदेजतीत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

विदुषां निकटेऽविदुषां च ब्रह्माऽदूरेस्तीत्याह ॥

विद्वानों के निकट और अविद्वानों से ब्रह्म दूर है इस विषय को कहते हैं ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या] (तद्) ब्रह्म (एजति) कंपते चलति मूढ़दृष्ट्या (तत्) (न) एजति) कम्पते कम्पयते वा ।

(तत्) (दूरे) [अधर्मात्मभ्योऽविद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः] (तत्) (उ) (अन्तिके) [धर्मात्मनां विदुषां योगिनां] समीपे ।

(तत्) (अस्य) (सर्वस्य) अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा (अन्तः) आभ्यन्तरे ।

(तत्) (उ)(सर्वस्य) समग्रस्य (अस्य) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षात्मकस्य (बाह्यतः) बहिरपि [वर्त्तमानो वर्तते इति निश्चिनुत] ॥५॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (तद्) वह ब्रह्म (एजति) चलता है एसा मूढ़ समझते हैं (तत्) वह (न) नहीं (एजति) चलता है और न कोई उसको चला सकता है ।

(तत्) वह (दूरे) अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से दूर है । (तत्) वह (उ) निश्चय से (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है ।

(तत्) वह ब्रह्म (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् एवं जीवों के (अन्तः) अन्दर विराजमान है ।

(तत्) वह (उ) निश्चय से (अस्य) इस प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के (बहिः) बाहर भी विराजमान है ऐसा निश्चत जानो ॥५॥

भावार्थः

(तदेजति) ।

हे मनुष्यास्तद् ब्रह्म मूढदृष्टौ कम्पत इव ।

(तन्नैजति) ।

तत्स्वतो व्यापकत्वात्कदाचिन्न चलति ।

भावार्थ

हे मनुष्यो ! ब्रह्म चलता सा है ऐसा मूढ़ मानते हैं ।

वह व्यापक होने से अपने स्वरूप से कभी भी चलायमान नहीं होता है ।

(तद्दूरे)

ये तदाज्ञाविरुद्धास्त इतस्ततो धावन्तोऽपि तन्न विजानन्ति ।

जो लोग उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं वे उसकी प्राप्ति के लिये इधर उधर भागते हुए भी उसको नहीं जान सकते ।

(तद्वन्तिके) ।

ये चेश्वराज्ञानुष्ठातारस्ते स्वात्मस्थमति निकटं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति ।

जो ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आचरण करते हैं वे अति निकट अपने आत्मा में स्थित ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ।

(तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः) ।

यद् ब्रह्म सर्वस्य प्रकृत्यादेर्बाह्याभ्यन्तरावयवानभिव्याप्य सर्वेषां जीवानामन्तर्यामिरूपतया सर्वाणि पापपुण्यात्मककर्माणि विजानन् याथातथ्यं फलं प्रयच्छति ।

जो ब्रह्म प्रकृत्यादि के बाहर और भीतर के अवयवों में व्यापक होकर सब जीवों के अन्तर्यामी रूप से सब पाप और पुण्य रूप कर्मों को जानता हुआ ठीक ठीक फल प्रदान करता है ।

शिक्षा—

एतदेव सर्वैर्ध्येयमस्मादेव सर्वैर्भेतव्यमिति ॥५॥

शिक्षा—

अतः इसी ब्रह्म का ही सबको ध्यान (उपासना) करना चाहिये और इसी से सब को डरना चाहिये ॥५॥

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान 'आर्याभिविनय' में भी किया है । वहाँ 'तदेजति' की व्याख्या में लिखा है कि "परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी अपनी चाल पर चला रहा है ।" यहां ऋषि के व्याख्यान में 'एजति' पद अन्तर्भावित ण्यर्थक समझना चाहिये ।

अविद्वान् के लक्षण में 'विचार शून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वर भक्ति रहित आदि' इतना विशेष लिखा है । इसी प्रकार विद्वान् के लक्षण में 'सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक, विचारशील' इतना और विशेष उल्लेख किया है ।

परमात्मा के सम्बन्ध में लिखा है—"सो आत्मा का भी आत्मा है.......एक तिलमात्र भी उसके बिना खाली नहीं है ॥

भाष्यनिष्कर्ष

ब्रह्म विद्वानों के लिये ज्ञेय और अविद्वानों के लिये अज्ञेय है ।

ब्रह्म निश्चय ही धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है क्योंकि वह निश्चयपूर्वक जानते हैंकि ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है । ब्रह्म स्वयं चलायमान नहीं होता किन्तु वह सारे ब्रह्माण्ड को चलाता है । उस अतिसूक्ष्म ब्रह्म की प्राप्ति वे अपने अति निकट आत्मा में करते हैं । किन्तु अविद्वान् अयोगियों से ब्रह्म निश्चय ही दूर है क्योंकि वे उसे चलायमान समझते हैं । वे उसकी प्राप्ति के लिये इधर उधर भागते हुए उसे प्राप्त नहीं कर सकते ।

विद्वान् लोग कर्मफलदाता ईश्वर से डर कर धर्माचरण अर्थात् उसकी आज्ञा का पालन करते और उसकी उपासना करते हैं । अतः ब्रह्म धार्मिक विद्वानों के लिये ज्ञेय है । किन्तु अविद्वान् लोग कर्मफल-प्रदाता, सर्व व्यापक ईश्वर से न डरकर अधर्माचरण अर्थात् उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं । वे ब्रह्म से भिन्न वस्तु की उपासना करते हैं । अतः ब्रह्म अविद्वानों के लिए अज्ञेय है ।

मन्त्र नें कहा गया है कि ब्रह्म चलता है और ब्रह्म नहीं चलता है । ब्रह्म दूर है और ब्रह्म समीप है । साधारण दृष्टि से यहां विरोध प्रतीत होता है किन्तु यहां विरोध नहीं है अपितु विरोधाभास अलंकार है । जिसका सुन्दर परिहार ऋषि ने भाष्य में दर्शाया है ।

—:•:—

यस्त्वित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथेश्वरविषयमाह ॥

अब ईश्वर विषय को कहते हैं ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥६॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्याः !] (यः) [विद्वान् जनः] (आत्मन्) परमात्मनि (एव) (सर्वाणि) अखिलानि (भूतानि) प्राण्यप्राणिरूपाणि (अनुपश्यति) [विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं] समीक्षते ।

भाषार्थ

हे मनुष्यो । (यः) जो विद्वान् जन (आत्मान्) परमात्मा में ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) जड़ चेतनों को (अनुपश्यति) विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास के पश्चात् देखता है ।

(यः) (तु) पुनरर्थे (सर्वभूतेषु) सर्वेषु प्रकृत्यादिषु (आत्मानम्) अतति सर्वत्र व्याप्नोति तम् (च) [समीक्षते] [सः] (ततः) तदनन्तरम् (न) (वि) (चिकित्सति) संशयं प्राप्नोति [इति यूयं विजानीत] ॥६॥

(तु) और जो (सर्वभूतेषु) सब प्रकृत्यादि पदार्थों में (आत्मानम्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा को देखता है वह (ततः) ऐसे सम्यग्दर्शन के पीछे (वि चिकित्सति) सर्वथा सन्देह को प्राप्त (न) नहीं होता, ऐसा तुम जानो ॥६॥

भावार्थः

भावार्थ

(यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु—पश्यति)

हे मनुष्या ! ये सर्व व्यापिनं व्यायकारिणं सर्वज्ञं सनातनं सकलस्य द्रष्टारं परमात्मानं विदित्वा ।

हे मनुष्यो ! जो लोग सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सबके द्रष्टा परमात्मा को जानकर ।

(सर्वभूतेषु चात्मानम्)

सुखदुःखहानिलाभेषु स्वात्मवत् सर्वाणि भूतानि विज्ञाय ।

सुख, दुःख, हानि, लाभों में अपने आत्मा के समान सब प्राणियों को समझ कर व्यवहार करते हैं ।

(ततो न विचिकित्सति)

धार्मिका जायन्ते त एव मोक्षमश्नुवते ॥ ६ ॥

वे धार्मिक कहलाते हैं, और वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

ऋषि ने 'संस्कारविधि' (संन्यासाश्रमप्रकरण) में संन्यासी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए इस मन्त्र को उद्धृत किया है। वहां इस मन्त्र के आधार पर सर्वत्र परमात्मा का दर्शन एवं सब प्राणियों के साथ आत्मीयता का व्यवहार आदि उदात्त भावनायें संन्यास धर्म के लिये आवश्यक बतलाई गई हैं । अतः ऋषि ने इस मन्त्र का संन्यास धर्म में सुन्दर नियोग किया है ।

भाष्यनिष्कर्ष

सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा धर्म का पालन तथा सम्यग्दर्शन से सन्देह निवृत्ति ॥

जो मनुष्य विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास के द्वारा ईश्वर को सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा जानते और देखते हैं, एवं सब प्राणियों के साथ अपने

आत्मा के समान व्यवहार करते हैं वे धार्मिक कहाते हैं और वे ही ईश्वर को प्राप्त करते हैं। अहिंसा धर्म के पालन और ईश्वर के सम्यग्दर्शन से आत्मा निर्मल हो जाता है जिससे सब सन्देह सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

आत्मन्

आत्मन्=परमात्मनि अर्थात् परमात्मा में। यहां आत्मन् शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का लुक् समझना चाहिए।

आत्मा

आत्मा शब्द जीवात्मा अर्थ में प्रसिद्ध है किन्तु भाष्य में ऋषि ने इसे जीवात्मा और परमात्मा दोनों अर्थों में ग्रहण किया है। ऋषि ने उणादि (४।१५३) में आत्मा का निर्वचन किया है--अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति, व्याप्नोति वा स आत्मा। यहां निरन्तर कर्मफल प्राप्ति से जीवात्मा तथा निरन्तर व्याप्ति से परमात्मा अर्थ दर्शाया है।

विचिकित्सति

वि पूर्वक चिकित्स धातु सन्देह अर्थ में प्रयुक्त होती है।

—:०:—

यस्मिन्नित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथ केऽविद्यादि दोषान् जहतीत्याह॥

अब कौन अविद्या आदि दोषों को त्यागते हैं, इस विषय को कहते हैं॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या!] (यस्मिन्) परमात्मनि, ज्ञाने, विज्ञाने, धर्मे वा (विजानतः) (विशेषेण समीक्षमाणस्य) सर्वाणि) (भूतानि) (आत्मा) आत्मवत् (एव) (अभूत्)१ भवन्ति (तत्र) तस्मिन्।

भाषार्थ

हे मनुष्यो! (यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान अथवा धर्म के विषय में (विजानतः) सम्यग्ज्ञाता जन के लिये (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (आत्मा) अपने आत्मा के समान (एव) ही (अभूत्) होते हैं।

१—अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम्।

परमात्मनि [स्थितस्य] (एकत्वम्) परमात्मनोऽद्वितीयत्वम् (अनुपश्यतः) अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद् द्रष्टुः योगिनः (कः) (मोहः) मूढ़ावस्था (अभूत्) (कः) (शोकः) परितापः [च] ।

(तत्र) उस परमात्मा में विराजमान (एकत्वम्) परमात्मा के एकत्व को (अनुपश्यतः) ठीक ठीक योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् देखने वाले योगी जन को (कः) क्या (मोहः) मोह और (कः) क्या (शोकः) क्लेश (अभूत्) होता है।

भावार्थः

भावार्थ

(यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः) ।

ये विद्वांसः संन्यासिनः परमात्मना सहचरितानि प्राणिजातानि स्वात्मवद् विजानन्ति यथा स्वात्मनो हितमिच्छन्ति तथैव तेषु वर्त्तन्ति ।

जो विद्वान् संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणिमात्र को अपने आत्मा के समान समझते हैं अर्थात् जैसे अपना हित चाहते हैं वैसे अन्य प्राणियों के साथ बर्ताव करते हैं ।

(एकत्वमनुपश्यतः, तत्र को मोहः कः शोकः)

एकमेवाद्वितीयं परमात्मनः शरणमुपागताः सन्ति तान् मोह-शोक-लोभादयो दोषाः कदाचिन्नाप्नुवन्ति ।

वे एक (अद्वितीय) परमात्मा की शरण को प्राप्त हैं। उनको मोह, शोक, लोभ आदि दोष कभी भी प्राप्त नहीं होते।

तात्पर्यम्:

ये च स्वात्मानं यथावद्विज्ञाय परमात्मानं विदन्ति ते सदा सुखिनो भवन्ति ॥७॥

इस प्रकार जो अपने आत्मा को ठीक-ठीक जानकर परमात्मा को जानते हैं वे सदा सुखी रहते हैं ॥७॥

ऋषि ने संस्कारविधि (संन्यासाश्रमप्रकरण) में संन्यासी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उल्लेख करते हुये इस मन्त्र को उद्धृत किया है। यहां वेदभाष्य में भी संन्यासी के कर्त्तव्यों का वर्णन किया है।

भाष्यनिष्कर्ष

सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा धर्म का पालन और उससे मोह शोकादि का त्याग

ब्रह्म को सर्वव्यापक जानकर अहिंसा धर्म का पालन करने वाले, अपने आत्मा के समान सब प्राणियों के साथ व्यवहार करने वाले, योगाभ्यासी, विद्वान्, संन्यासी को ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। जिससे मोह शोक आदि दोष निवृत्त हो जाते हैं। सर्वत्र अहिंसा धर्म के पालन से आत्मा का यथावत् ज्ञान हो जाता है तत्पश्चात् निर्मल आत्मा में परमात्मा प्रकाशित होता है जिससे सब अविद्या का नाश होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है।

अभूत्

ऋषि ने इस पद की सिद्धि में लिखा है—'वचनव्यत्ययेनैकवचनम्'। अर्थात् वचन-व्यत्यय से बहुवचन के प्रयोग में एकवचन प्रयुक्त हुआ है। 'व्यत्ययो बहुलम्' (अष्टा० ३।१) इस पाणिनीय सूत्र से वेद में सुपांदि का व्यतिक्रम स्वीकृत किया गया है।

अभूत लुङ्लकार का प्रयोग है। किन्तु 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अष्टा० ३।४) इस पाणिनीय सूत्र से लुङ्लकार तीनों कालों में प्रयुक्त होता है। अतः ऋषि ने 'अभूत्' पद का अर्थ किया है—भवन्ति।

—:०:—

स पर्यगादित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। स्वराज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुनः परमेश्वराः कीदृश इत्याह ॥

परमेश्वर कैसा है अब इस विषय को कहते हैं ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

[हे मनुष्या! यद् ब्रह्म] (शुक्रम्) आशुकरं सर्वशक्तिमत् (अकायम्) स्थूल-सूक्ष्म कारणशरीररहितम् (अव्रणम्) अच्छिद्रमच्छेद्यम (अस्नाविरम्) नाड्यादि सम्बन्ध बन्ध रहितम् (शुद्धम्) अविद्यादि दोषरहितत्वात् सदा पवित्रम् (अपापविद्धम्) यत् पापयुक्त पापकारि पापप्रियं कदाचिन्नभवति तत् (परि) सर्वतः (अगात्) व्याप्तोऽस्ति

हे मनुष्यो। जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्र-कारी, सर्वशक्तिमान् (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है। (अव्रणम्) छिद्ररहित एवं जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है (शुद्धम्) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र है (अपापविद्धम्) जो कभी भी पाप से युक्त, पाप करने वाला और पाप से प्रेम करने वाला नहीं है वह (परि) सर्वत्र (अगात्) व्यापक है।

यः(कविः) सर्वज्ञः (मनीषी) सर्वेषां जावानां मनोवृत्तोनां वेत्ता (परिभूः) यः दुष्टान् पापिनः परिभवति तिरस्करोति स। (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूपो, यस्य संयोगे-नोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो, मातापितरौ, गर्भवासो, जन्म, वृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते।

(सः) परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातनीभ्योऽनादिस्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्ति विनाशरहिताभ्यः। (समाभ्यः) प्रजाभ्यः (याथातथ्यतः) यथार्थतया (अर्थात् वेद द्वारा सर्वान् पदार्थान् (वि) विशेषेण (अदधात्) विधतते स एव युष्माभिरुपासनीयः] ॥८॥

भावार्थः

(स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ꣳशुद्धमपापाविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः)

हे मनुष्या! यद्यनन्तशक्तिमद्, अजं, निरन्तरं, सदामुक्तं न्यायकारि, निर्मलं, सर्वज्ञं, सर्वस्य साक्षि, नियन्तृ अनादिस्वरूपं ब्रह्म,

(शाश्वतीभ्यः सामाभ्यःयाथार्थ्यतोऽर्थान् व्यद्धात्)

कल्पादौ जोवेभ्यः स्वोक्तवेदैः शब्दार्थ सम्बन्धविज्ञापिकां विद्यां नोपदिशेत् तर्हि-

फलमाह-

कोऽपि विद्वान् न भवेत् न च धर्मार्थ-काममोक्षफलं प्राप्तुं शक्नुयात्

जो (कविः) सर्वज्ञ (मनीषी) सब जीवों की मनोवृत्ति को जानने वाला (परिभूः) जो दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला (स्वयम्भूः) अनादि स्वरूप वाला, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता जिसके माता पिता कोई नहीं और जिसका गर्भवास, जन्म, वृद्धि. और क्षय नहीं होते हैं।

वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन अनादि स्वरूप वाली अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश से रहित (समाभ्यः) प्रजा के लिए (याथातथ्यतः) यथार्थता से (अर्थात्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (वि) अच्छी तरह से (अदधात्) उपदेश करता है (सः) वह परमात्मा ही तुम्हारे लिए उपासना करने योग्य है।८॥

भावार्थ

हे मनुष्यो! जो ब्रह्म अनन्त शक्तिशाली अजन्मा, अखण्ड, सदा से युक्त, न्यायकारो पाप रहित, सर्वज्ञ सब का द्रष्टा, नियन्ता और अनादि स्वरूप वाला है

यदि वह सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयं प्रोक्त वेदों के द्वारा शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को बतलाने वाली विद्या का उपदेश न करे तो—

कोई भी विद्वान् न बन सके और न धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर सके

शिक्षा—

तस्मादिदमेव सदैवोपाध्वम् ॥८॥

इसलिए इसी ब्रह्म की उपासना सदा करनी चाहिए ॥८॥

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश (सप्तमसमुल्लास) में भी किया है। वहां इस मन्त्र के आधार पर परमेश्वर की सगुण स्तुति और निर्गुण स्तुति विषय को समझाया गया है। इस मन्त्र में 'शुक्रम्' आदि सगुणस्तुति और 'अकायम्' आदि निर्गुण स्तुति के उदाहरण विद्यमान हैं।

इस मन्त्र के व्याख्यान में वहां इतना विशेष लिखा है—"जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है।"

आगे चलकर सप्तम समुल्लास में ही 'स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽव्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' मन्त्र का इतना अंश परमात्मा प्रजा के कल्याण के लिये वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है इसकी सिद्धि में उद्धृत किया है। सत्यार्थप्रकाश (एकादशसमुल्लास) में इस मन्त्र में आये 'अकायम्' पद के प्रमाण से अवतारवाद का भी खण्डन किवा गया है।

ऋषि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में तीन स्थलों (१–वेदनित्यत्वविषय २–उपासना-विषय ३–ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय) पर मन्त्र की व्याख्या की है। 'वेदनित्यत्वविषय' में निम्न पदों का अर्थ विशेष किया है—शुक्रम्=सब जगत् का कर्ता। अव्रणम्=परमाणु भी उसमें छेद नहीं कर सकता। ३–परिभूः=सब के ऊपर विराजमान। परमात्मा सब प्रजा के हित के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों का उपदेश करता है अतः वेद परमात्मा का ज्ञान होने से नित्य है। इस युक्ति से वहां वेदों को नित्यता इस मन्त्र के प्रमाण से सिद्ध की गई है "ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय" में इस मन्त्र में आये 'अकायम्' पद । 'मूर्तियां सब प्रकार के शरीर से रहित' ऐसा अर्थ दर्शा कर मूर्तिपूजा का खण्डन तथा परमात्मा की उपासना का विधान किया है।

ऋषि ने 'आर्याभिविनय' में भी इस मन्त्र का व्याख्यान किया है। जिसमें निम्न पदों का अर्थ विशेष दर्शाया है—१–अस्नाविरम्=अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आवरण नहीं हो सकता। २–कविः=त्रैकालज्ञः ३—मनीषी=सब के मन का दमन करने वाला। वहां इतना और भी विशेष लिखा है कि—वेद पुस्तक ही ईश्वरकृत है अन्य नहीं। इसमें युक्ति यह दी है कि जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है वैसा ही वेद-पुस्तक भी है।

भाष्यनिष्कर्ष

जन्मादिदोषों से रहित ईश्वर वेदविद्या का उपदेश करता है ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा सदामुक्त, न्यायकारी, स्वयम्भु, अनादि, अजन्मा अखण्ड नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, अविद्यादिदोष एव पाप से सदा दूर है । वह परमात्मा अपनी प्रजा के कल्याण के लिए वेद द्वारा सब पदार्थों का अच्छे प्रकार उपदेश करता है

शुक्रम्

ऋषि ने इस पद से तीन अर्थ ग्रहण किये हैं—१-शीघ्रकारी २—सर्वशक्तिमान् भाष्य०) ३—जगत् कर्त्ता (ऋग्वेदादि०)

आशुकरम्=शुकरम्=शुक्रम् । इस प्रकार निरुक्त पद्धति से शुक्र शब्द का अर्थ आशुकर=शीघ्रकारी किया गया है । शुक्र शब्द बल और वीर्य अर्थ में प्रसिद्ध है । बल के तात्पयार्थ से सर्वशक्तिमान् तथा ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में वीर्य के तात्पयार्थ से जगत् का कर्ता अर्थ शुक्र पद से ग्रहण कर लिया है ।

कविः

ऋषि ने इस पद को दो अर्थों में ग्रहण किया है—१-सर्वज्ञ, २—त्रैकालज्ञ (आर्याभिविनय) । ऋषि ने उणादि (४।१४०) में कवि शब्द का निर्वचन किया है-कौति शब्दयत्युपदशति स कविः, मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा । परमात्मा सर्वज्ञ है अतः सब से बड़ा विद्वान् होने से वह कवि । कवि का अर्थ क्रान्तदर्शी भी किया है अतः आर्याभिविनय में किया त्रैकालज्ञ अर्थ भी सुसंगत है ।

मनीषी

ऋषि ने इस पद के दो अर्थ किये हैं—१-सबके मन की वृत्तियों को जानने वाला २-सबके मन का दमन करने वाला । ईष गतिहिंसा दर्शनेषु (भ्वा० आ०) । ईष्+अ+टाप् गुरोश्च हलः (३ । ३ । १०३)=ईषा=गति, हिंसा, दर्शन मनस्+ईषा=मनीषा मनीषा+इनि=मनीषी ईष धातु के गति और दर्शन अर्थ होने से मनीषी शब्द का मन की वृत्तियों को जानने वाला अर्थ सिद्ध होता है । और ईष धातु का हिंसा अर्थ होने से मन का दमन करने वाला अर्थ उत्पन्न होता है ।

परिभूः

ऋषि ने इस पद के भी दो अथ दर्शाये हैं—१-दुष्टों का तिरस्कारक २-सर्वोपरिवराजमान । परिपूर्वक भू धातु तिरस्कार करने अर्थ मैं प्रयुक्त होती है इससे 'परिभू' पद का दुष्टों का तिरस्कारक अर्थ सिद्ध है । तथा परि उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थ में है । इस प्रकार यौगिक दृष्टि से परिभू का अर्थ सर्वोपरिविराजमान भी सिद्ध होता है ।

— :o: —

अन्धन्तम इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः।

के जना अन्धन्तमः प्राप्नुवन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य अन्धकार को प्राप्त होते हैं इस विषय को कहते हैं ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳪरताः ॥९॥

संस्कृतार्थ

[ये परमेश्वरं विहाय] (असम्भूतिम्) अनादि-अनुत्पन्न प्रकृत्याख्यं सत्त्वरजस्तमोगुणमयं जडं वस्तु (उपासते) उपास्यतया जानन्ति (ते) (अन्धम्) आवरकम् (तमः) अन्धकारम् (प्र) प्रकर्षेण (विशन्ति)

(ये) सम्भूत्याम् महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ (रताः) ये रमन्ते (ते) (उ) वितर्केण सह (ततः) तस्मात् (भूय इव) अधिकमिव (तमः) अविद्यामयमन्धकारम् (प्रविशन्ति) ॥९॥

भावार्थ

जो लोग परमेश्वर को छोड़कर (असम्भूतिम्) अनादि, जिसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती, सत्त्व रज तम गुण रूप प्रकृति नामक जड़ वस्तु को (उपासते) उपासनीय समझते हैं (ते) वे (अन्धम्) ढकने वाले (तमः) अन्धकार में (प्र) अच्छी तरह से (विशन्ति) प्रविष्ट होते हैं।

(ये) जो लोग (सम्भूत्याम्) महत्तत्त्वादि स्वरूप में परिणत हुए सृष्टि में (रताः) रमण करने वाले हैं (ते) वे (उ) निःसन्देह (ततः) उससे (भूय इव) कहीं अधिक (तमः अविद्यारूपअन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं ॥९॥

भावार्थः

(येऽसम्भूतिमुपासते अन्धन्तम प्रविशन्ति)।

ये जनाः सकलजडजगतोऽनादि नित्यं कारणमुपास्यतया स्वीकुर्वन्ति ते ऽविद्या प्राप्य सदा क्लिश्यन्ति।

(य उ सम्भूत्याᳪरताः, ततो भूय इव ते तमो)

ये च तस्मात्कारणादुत्पन्नं पृथिव्यादि-स्थूलं सूक्ष्मं कार्यकारणाख्यमनित्यं संयोगजन्य

भावार्थ

जो लोग सारे जड़ जगत् के अन्य नित्य कारण प्रकृति को उपास्य देव जानते हैं वे अविद्या को प्राप्त करके सदा दुःखी रहते हैं।

और जो उस कारण भूत प्रकृति से युक्त हुये पृथिव्यादि स्थूल, कार्य कारण

कार्यं जगदिष्टमुपास्यं मन्यन्ते ते गाढामविद्यां प्राप्याधिकतरं क्लिश्यन्ति ।

रूप सूक्ष्म वा अनित्य वा संयोग से उत्पन्न कार्य जगत् को अपना इष्ट उपास्य मानते हैं वे गाढ़ अविद्या को प्राप्त होकर उससे अधिक दुःखी रहते हैं ।

उपास्यमाह--

तस्मात्सच्चिदानन्द स्वरूपं परमात्मानमेव सर्वे सदोपासीरन् ॥ ९ ॥

इसलिए सत् चित् आनन्द स्वरूप परमात्मा की ही सबको सदा उपासना करनी चाहिये ॥९॥

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश (एकादशसमुल्लास) में भी किया है। वहां इस मन्त्र के प्रमाण से मूर्ति-पूजा का खण्डन तथा परमेश्वर को ही पूजनीय बतलाया है। यहां वेदभाष्य में भी जो परमेश्वर के स्थान में अन्य की उपासना करते हैं उनकी निन्दा की गई है तथा परमात्मा की उपासना का विधान किया है।

भाष्यनिष्कर्ष

कार्यकारण स्वरूप जड़ को उपासना का निषेध ॥

कारण रूप प्रकृति के उपासक अविद्या को प्राप्त होके सदा दुःखी रहते हैं तथा कार्य जगत् के उपासक उससे भी अधिक दुःखी रहते हैं। अतः सच्चिदानन्दस्वरूप उपास्य परमात्मा के स्थान में मूर्तिपूजा एवं अन्य किसी की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये।

असम्भूतिः । सम्भूतिः ॥

सम्+भू+क्तिन+सु=सम्भूतिः। सम् उपसर्ग पूवक भू धातु उत्पत्ति अर्थ में प्रयुक्त होती है। सम्भूति का प्रतिषेध=असम्भूति। इस प्रकार असम्भूति का अर्थ उत्पन्न न होने वाली प्रकृति सिद्ध होता है। सम्भूति का अर्थ उत्पत्ति है। प्रकृति से होने वाला सर्वप्रथम विकार महत् है। अतः ऋषि ने सम्भूति का अर्थ महदादि स्वरूप में परिणत सृष्टि किया है।

— :o: —

अन्यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें इस विषय को कहते हैं ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या ! यथा वयम्] (धीराणाम्) मेधाविनां विदुषां योगिनां [सकाशाद् वचः] (शुश्रुमः) शृणुमः (ये) (नः) अस्मान् प्रति (तत्) तयोर्विवेचनम् (विचचक्षिरे) व्याचक्षरे ।

[ते] (संभवात्) संयोगजन्यात् कार्यात् (अन्यत्) कार्यफलं वा (एव) (आहुः) कथयन्ति (असम्भवात्) अनुत्पन्नात्कारणात् (अन्यत्) भिन्नम् (आहुः) कथयन्ति (इति) अनेन प्रकारेण [यूयमपि शृणुत] ॥ १० ॥

भावार्थः

(अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्)

हे मनुष्या ! यथा विद्वासः कार्यात्कारणाद् वस्तुनो भिन्न भिन्न वक्ष्यमाणमुपकारं गृह्णन्ति ग्राहयन्ति

(धीराणां शुश्रुम, येनस्तद् विचचक्षिरे इति) ।

तद्गुणान् विज्ञाय विज्ञापयन्ति, एवमेव यूयमपि निश्चिनुत ॥१०॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! जैसे हम ने (धीराणाम्) मेधावी विद्वान योगी जनों के वचन (उपदेश) (शुश्रुमः) सुने हैं (ये) जिन्होंने (नः) हमें (तत्) उस सम्भूति और असम्भूति दोनों का विवेचन (विचचक्षिरे) व्याख्या पूर्वक समझाया है ।

वे योगी जन (सम्भवात्) संयोग से उत्पन्न कार्य से (अन्यत् एव) और ही कार्य का फल (आहुः) बतलाते हैं तथा (असम्भवात् उत्पन्न न होने वाले कारण से (अन्यत्) भिन्न (आहुः) बतलाते हैं । (इति) इस प्रकार तुम भी सुनो ॥१०॥

भावार्थ

हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग कार्य-वस्तु और कारण वस्तु से आगे कहे जाने वाले भिन्न भिन्न उपकार स्वयं ग्रहण करते हैं तथा औरों को भी ग्रहण करवाते हैं तथा—

उन कार्य कारण के गुणों को जानकर अन्यों को समझाते हैं इसी प्रकार तुम भी निश्चय करो ॥ १० ॥

भाष्यनिष्कर्ष

कार्य कारण से क्या करें ?

विद्वान् कार्य के गुणों को जानकर अगले मन्त्र में उपदिश्यमान भिन्न भिन्न उपकारों को स्वयं ग्रहण करते हैं तथा अन्यों को भी ग्रहण कराते हैं ।

—:o:—

सम्भूतिमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः कार्यकारणाभ्यां किं किं साधनीयमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को कार्य और कारण से क्या क्या सिद्ध करना चाहिये इस विषय को कहते हैं ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या !] (यः) [विद्वान्] (सम्भूतिम्) सम्भवन्ति यस्यां तां कार्यारूयां सृष्टिम् (च) तस्या गुणकर्मस्वभावान् (विनाशम्) विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् (च) तद्गुणकर्मस्वभावान् (सह) (उभयम्) कार्यकारणस्वरूपं जगत् (तत्) (वेद) जानाति—

[सः] (विनाशेन) नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह (मृत्युम्) शरीर वियोगजन्यं दुःखम् (तीर्त्वा) उल्लङ्घ्य (सम्भूत्या) शरीरेन्द्रियान्तःकरणरूपया उत्पन्नया कार्यरूपया धर्म्ये प्रवर्त्तयिन्त्या सृष्टया सह (अमृतम्) मोक्षम् (अश्नुते) प्राप्नोति ॥ ११ ॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिसमें पदार्थ उत्पन्न होते हैं उस कार्य रूप सृष्टि को (च) और सृष्टि के गुण कर्म स्वभाव को एवं (विनाशम्) जिसमें पदार्थ विनष्ट=अदृश्य हो जाते हैं उस कारण रूप प्रकृति को तथा (च) उसके गुण कर्म स्वभाव को (सह) एक साथ (उभयम्) (तत्) कार्य कारण रूप जगत् को (वेद) जानता है—

वह (विनाशेन) नित्य स्वरूप को समझने के कारण (मृत्युम्) शरीर और आत्मा के वियोग से उत्पन्न दुःख को (तीर्त्वा) पार करके (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय अन्त करण रूप उत्पन्न होने वाली कार्य-रूप धर्म कार्य में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के सहयोग से (अमृतम्) मोक्ष सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥११॥

(सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह)

हे मनुष्याः ! कार्यकारणाख्ये वस्तुनी निरर्थके न स्तः, किन्तु कार्यकारणयोर्गुणकर्मस्वभावान् विदित्वा—

हे मनुष्यो ! कार्य (सृष्टि) कारण (प्रकृति) नामक वस्तुयें निरर्थक नहीं हैं किन्तु कार्य, कारण इन दोनों के गुण कर्म स्वभाव को जानकर—

(विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते) ।

धर्मादिमोक्षसाधनेषु संप्रयोज्य स्वात्मकार्यकारणयोर्विज्ञानेन नित्यत्वेन मृत्युभयं त्यक्त्वा मोक्षसिद्धिं सम्पादयत ।

इनका धर्मादि मोक्ष के साधनों में उपयोग करके, अपने स्वरूप से कार्य और कारण की नित्यता के विज्ञान से मृत्यु के भय को हटा कर मोक्ष की सिद्धि करो ।

फलनिष्पत्तिमाह—

इति कार्यकारणाभ्यामन्यदेव फलं निष्पादनीयमिति ।

इस प्रकार कार्य (सृष्टि) कारण (प्रकृति) के द्वारा यह मोक्षसिद्धिरूप फल प्राप्त करना चाहिये ।

निषेधमाह—

अनयोर्निषेधो हि परमेश्वरस्थान उपासनाप्रकरणे वेदितव्यः ॥११॥

उपासना के प्रकरण में परमेश्वर के स्थान में कार्य (सृष्टि) कारण (प्रकृति) की उपासना करने का निषेध समझना चाहिये ॥११॥

भाष्यनिष्कर्ष

कार्य कारण के ज्ञान से मृत्यु को हटाकर मोक्ष सिद्धि का उपदेश ।

जो मनुष्य कार्य और कारण इन दोनों के गुण, कर्म और स्वभाव को साथ-साथ जानता है वह कारण (प्रकृति) के ज्ञान से मृत्यु दुःख को और कार्य (शरीरादि) का मोक्ष साधन रूप में उपयोग करके अमृत को प्राप्त करता है ।

विनाश

यहां विनाश पद सम्भूति के पक्ष में विशिष्ट अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है । जिसमें यह तात्पर्यार्थ निहित है कि उस वर्तमान सृष्टि की अवधि-समाप्ति पर सब पदार्थ विनाश को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् प्रलय हो जाता है । सब पदार्थ अपने आदिकारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं, इसी को विनाश कहा गया है । अतः ऋषि ने विनाश पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—"विनश्यन्त्यदृश्या भवन्ति पदार्था यस्मिन्" । इस प्रकार यहां अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय करके विनाश शब्द का यौगिक अर्थ प्रकृति किया गया है । यहां सम्भूति शब्द सृष्टि और विनाश शब्द प्रकृति का वाचक है ।

—:०:—

अन्धन्तम इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथ विद्याऽविद्योपासनाफलमाह ॥

अब विद्या और अविद्या की उपासना का फल कहते हैं॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳪ रताः॥ १२॥

संस्कृतार्थः

(ये) [मनुष्याः] (अविद्याम्) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद् भिन्नम् (उपासते) अभ्यस्यन्ति(ते) (अन्धम्) दृष्ट्यावरकम् (तमः) गाढमज्ञानम् (प्र) (विशन्ति)।

(ये) [पण्डितंमन्यमानाः] (विद्यायाम्) शब्दार्थसम्बन्ध विज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे (रताः) रममाणाः (ते) (उ) (ततः) (भूय इय) अधिकमिव (तमः) अज्ञानम् (प्रविशन्ति) ॥१२॥

भावार्थः

अत्रोपमालङ्कारः। यद्यच्चेतनं ज्ञानादिगुणयुक्तं वस्तु तज्ज्ञातृ, यदविद्यारूपं तज्ज्ञेयं, यच्च चेतनं ब्रह्म विद्वदात्मस्वरूपं वा तदुपासनीयं सेवनीयं च।

यदतो भिन्नंतन्नोपासनीयं किन्तूपकर्त्तव्यम्।

भाषार्थ

(ये) जो मनुष्य, (अविद्याम्) अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा जानना अविद्या है, अतः ज्ञानादि गुणों से रहित कार्य कारण रूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु को (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (अन्धम्) ज्ञान दृष्टि को ढकने वाले (तमः) गाढ़ अज्ञान में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं।

(ये) और जो अपने आपको पण्डित मानने वाले (विद्यायाम्) शब्द अर्थ और सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण में (रताः) रमण करते हैं (ते वे (उ) निश्चय ही (ततः) उससे (भूयः इव) कहीं अधिक (तमः) अज्ञान में प्रविष्ट होते हैं ॥१२॥

भावार्थ

यहां उपमा अलङ्कार है। जो जो ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन वस्तु है वह ज्ञाता, और जो अविद्या रूप है वह ज्ञेय कहलाता है। और जो चेतन ब्रह्म अथवा आत्मा है उसी की उपासना और सेवा करनी चाहिये।

और इससे भिन्न है उसको उपासना नहीं करनी चाहिये किन्तु उससे उपकार ग्रहण करना चाहिये।

(येऽविद्यामुपासते, अन्धन्तमः प्रविशन्ति)

ये मनुष्या अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशैः क्लेशैर्युक्तास्ते परमेश्वरं विहायातो भिन्नं जडं वस्तूपास्य महति दुःखसागरे निमज्जन्ति ।

जो मनुष्य अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से युक्त हैं वे परमेश्वर को छोड़कर इससे भिन्न जड वस्तु की उपासना करके महान् दुःख सागर में डूबते हैं ।

(य ऽ उ विद्यायाᳬरताः, ततो भूय इव ते तमो)

ये च शब्दार्थान्वयमात्रं संस्कृतमधीत्य सत्यभाषणपक्षपातरहित न्यायाचरणाख्यं धर्मं नाचरन्त्यभिमानारूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्या विद्यामेव मन्यन्ते ते चाधिकतमसि दुःखार्णवे सततं पीडिता जायन्ते ॥१२॥

और जो शब्द, अर्थ, सम्बन्ध मात्र, संस्कृत भाषा पढ़कर सत्यभाषण पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म का आचरण नहीं करते अपितु अभिमानी होकर विद्या का अपमान करके अविद्या का मान करते हैं वे अत्यन्त अज्ञान रूप दुःख सागर में पड़े सदा दुःखी रहते हैं । १२॥

भाष्यनिष्कर्ष

जड़ की उपासना का निषेध तथा चेतन की उपासना का विधान ॥

अविद्यादि पांच क्लेशों से युक्त मनुष्य जड़ वस्तु की उपासना करके गाढ़ अज्ञान अर्थात् महान् दुःखसागर में डूबते हैं । अतः जड़ वस्तु की उपासना नहीं करनी चाहिये किन्तु उससे उपकार ग्रहण करना चाहिये ।

जो मनुष्य शब्द, अर्थ, सम्बन्ध मात्र सस्कृत भाषा पढ़कर धर्म का आचरण नहीं करते अपितु अभिमानी होकर विद्या का अपमान और अविद्या का मान अर्थात् विद्या के विपरीत आचरण करते हैं वे विद्यारत अविद्योपासकों से भी अधिक अज्ञान रूप दुःखसागर में पड़े सदा दुःखी रहते हैं ।

अविद्या

ऋषि ने यहां भाष्य में अविद्या पद का अर्थ जड़ किया है और समझाया है कि यह जड़ जगत् अनित्य है, अपवित्र हैं, दुःखदायक है और अचेतन है इसको नित्य पवित्र, सुखदायक और चेतन समझकर इसकी उपासना करना अविद्या है । इसी बात की पुष्टि में 'अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' यह योगशास्त्र का अविद्यालक्षण उद्धृत किया है । उपासनीय तो परमेश्वर है जो नित्य, पवित्र, आनन्द-प्रदाता और चेतन है ।

अत्रोपमालङ्कारः

यहाँ वेदमन्त्र में 'इव' शब्द पूर्ण उपमालङ्कार का प्रकाशक है। विद्यारतों का और अविद्योपासकों का परस्पर उपमान उपमेय भाव है। गाढ़ अन्धकार में प्रवेश उपमा (सादृश्य) है। जैसे विद्यारत अत्यन्त गाढ़ अन्धकार में पड़े रहते हैं वैसे अविद्योपासक भी गाढ़ अन्धकार में पड़े रहते हैं।

—:०:—

अन्यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्द। गान्धारः स्वरः॥

अथ जडचेतनयोर्विभागमाह॥

अब जड़ और चेतन का भेद कहते हैं॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१३॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्या! ये विद्वांसो] (नः) अस्मभ्यम् (विचचक्षिरे) व्याख्यातवन्तः (विद्यायाः) पूर्वोक्तायाः (अन्यत्) अन्यदेवकार्यं फलं वा (एव) (आहुः) कथयन्ति।

(अविद्यायाः) पूर्वमन्त्रेण प्रतिपादितायाः (अन्यत्) (आहुः) (इति) [तेषां] (धीराणाम्) आत्मज्ञानं विदुषां [सकाशात्] (तत्) [वचः] वयं (शुश्रुम) श्रुतवन्त [इति विजानीत] ॥१३॥

भावार्थः

(अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः)

ज्ञानादिगुणयुक्तस्य चेतनस्य सकाशाद् य उपयोगो भवितुं से योग्यो न स अज्ञानयुक्तस्य जडस्य सकाशात्। यच्च जड़ात् प्रयोजनं सिध्यति न तच्चेतनात्।

भावार्थः

हे मनुष्यो! जो विद्वान् लोग (नः) हमारे लिये (विचचक्षिरे) बतला गये हैं कि (विद्यायाः) पूर्वमन्त्र में कही विद्या का (अन्यत्) और ही कार्य वा फल होता है ऐसा (कथयन्ति) कहते हैं।

(अविद्यायाः) पूर्वमन्त्र में प्रतिपादित अविद्या का (अन्यत्) और ही फल होता है ऐसा उन (धीराणाम्) आत्मज्ञानी विद्वानों के पास से (तत्) उपदेश हमने (शुश्रुम) सुना है ऐसा तुम जानो ॥१३॥

भावार्थ

ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन से जो उपयोग लिया जा सकता है वह अज्ञान युक्त जड़ वस्तु से नहीं। और जो जड़ वस्तु से प्रयोजन सिद्ध होता है वह चेतन से नहीं हो सकता।

(इति शश्रुम धीराणां ये न-स्तद् विचचक्षिरे)

इति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्वत्सङ्गेन विज्ञानेन योगेन धर्माचरणेन चानयोर्विवेकं कृत्वा—

ऐसा सब मनुष्यों को विद्वानों के सङ्ग, विज्ञान, योग और धर्माचरण से विवेचन करके—

कर्त्तव्यमाह—

उभयोरुपयोगः कर्त्तव्यः।

जड़ और चेतन दोनों का ठीक ठीक उपयोग करना चहिये।

भाष्यनिष्कर्ष

जड़ और चेतन के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक ॥

सब मनुष्यों को विद्वानों का संग, विज्ञान, योग और धर्माचरण से जड़ और चेतन वस्तु का विवेक करना चाहिये। और उनसे अगले मन्त्र में उपदिश्यमान उपयोग ग्रहण करना चाहिये।

—:०:—

विद्यामित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। स्वराडुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

फिर उसी विषय को कहते हैं॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥१४॥

संस्कृतार्थः

(यः) [विद्वान्] (विद्याम्) पूर्वोक्ताम् (च) तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् (अविद्याम्) प्रतिपादितपूर्वाम् (च) एतदुपयोगिसाधनकलापम् (तत्) (उभयम्) (सह) (वेद) विजानीते [सः] (अविद्यया) शरीरादिजडेन पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन (मृत्युम्) मरणदुःखभयम् (तीर्त्वा) उल्लङ्घ्य (विद्यया) आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोग धर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन (अमृतम्) नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा (अश्नुते) ॥१४॥

भाषार्थ

यः जो विद्वान् (विद्याम्) पूर्वमन्त्र में कही विद्या (च) और उसके साधन को उपसाधनों तथा (अविद्याम्) पूर्व प्रतिपादित अविद्या (च) और उसके उपयोगी नाना साधन (तत्, उभयम् सह) उन दोनों को साथ (वेद) जानता है (स) वह (अविद्यया) शरीर आदि जड़ पदार्थों के द्वारा किये पुरुषार्थ से (मृत्युम्) प्राण त्याग में होने वाले दुःख के भय को (तीर्त्वा) पार करके (विद्यया) आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से (अमृतम्) अविनाशी अपने आत्मा के स्वरूप को अथवा परमात्मा को (अश्नुते) प्राप्त करता है। ॥१४॥

भावार्थः

(विद्यां चाविद्यां च यस्तद्-वेदोभयꣳसह)

ये मनुष्या विद्याऽविद्ये स्वरूपतो विज्ञायानयोर्जडचेतनौ साधकौ वर्तेत इति निश्चित्य सर्वं शरीरादिजडं चेतनमात्मानं च धर्मार्थकाममोक्षसिद्धये सहैव सम्प्रयुञ्जते

(अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुते) ।

ते लौकिकं दुःखं विहाय पारमार्थिकं सुखं प्राप्नुवन्ति ।

विद्याऽविद्याऽभावेस्थितिमाह—

यदि जडं प्रकृत्यादिकारणं शरीरादि-कार्यं वा न स्यात्तर्हि परमेश्वरो जगदुत्पत्तिं, जीवः कर्मोपासने ज्ञानं च कर्तुं कथं शक्नुयात् ।

तस्मान्न केवलेन जड़ेन न च केवलेन चेतनेनाथवा न केवलेन कर्मणा न केवलेन ज्ञानेन कश्चिदपि धर्मादिसिद्धिं कर्तुं समर्थो भवति ॥१४॥

भावार्थ

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानकर और इनके जड़ और चेतन पदार्थ साधक हैं ऐसा निश्चय करके शरीर आदि जड़ और चेतन आत्मा का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये एक साथ ही प्रयोग करते हैं—

वे लोग लौकिक दुःख से छूट कर पारमार्थिक सुख (मुक्ति) को प्राप्त होते हैं ।

यदि जड़ (अविद्या) प्रकृति आदि कारण वस्तु अथवा शरीर आदि कार्य वस्तु न हो तो परमात्मा जगत् की उत्पत्ति तथा जीव कर्म, उपासना और ज्ञान प्राप्ति कैसे कर सके ।

इसलिये न केवल जड़ (अविद्या) के द्वारा और न केवल चेतन (विद्या) के द्वारा अथवा न केवल कर्म (अविद्या) के द्वारा और न केवल ज्ञान (विद्या) के द्वारा कोई भी व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता ॥१४॥

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश (नवमसमुल्लास) में भी किया है। वहां अविद्या शब्द का अर्थ कर्मोपासना और विद्या शब्द का अर्थ यथार्थज्ञान किया है। यहां वेदभाष्य में भी ये अर्थ विद्यमान हैं। किन्तु कर्मोपासना और ज्ञान की जो वहां विशेष व्याख्या की है सो इस प्रकार है—"विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं होता अर्थात् पवित्र कर्म पवित्रोपासना और पवित्रज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म पाषाण मूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म उपा-

सना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिये धर्मयुक्त सत्यभाषण आदि कर्म करना और मिथ्याभाषण आदि को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।"

भाष्यनिष्कर्ष

जड़ और चेतन का उपयोग ॥

सब मनुष्यों को उचित है कि अविद्या अर्थात् शरीर आदि जड़ पदार्थों के द्वारा किये पुरुषार्थ अर्थात् कर्म और उपासना से मृत्यु दुःख से पार होना चाहिये। विद्या अर्थात् आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न यथार्थज्ञान द्वारा परमात्मा का दर्शन करके मोक्ष आनन्द को प्राप्त करें।

विद्यां च

ऋषि ने इसका भाष्य किया है—चेतन और उसके साधन उपसाधन। अर्थात् यहां विद्या शब्द का अर्थ चेतन है और मन्त्र में पठित चकार पद से विद्या के साधन उपसाधनों का समुच्चय किया गया है। विद्या अर्थात् आत्मा चेतन हैं। अन्तःकरण आत्मा का साधन है। यथार्थज्ञान उसका उपसाधन है। अतः ऋषि ने इस मन्त्र में 'विद्यया' की व्याख्या में चेतन और उसके साधन उपसाधन सबका समुच्चय करके लिखा है – "विद्यया=आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोगरूप धर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से।"

अविद्यां च

ऋषि ने इसकी व्याख्या की है—जड़ और उसके नाना साधन। अर्थात् यहाँ अविद्या शब्द का अर्थ जड़ है और मन्त्र में पठित चकार पद से उसके उपयोगी नाना साधनों का समुच्चय किया गया है? अविद्या अर्थात् शरीर जड़ है। पुरुषार्थ (कर्म) और उपासना उसके उपयोगी नाना साधन हैं। अतः ऋषि ने इसी मन्त्र में 'अविद्यया' की व्याख्या में जड़ और उसके नाना साधन सबका समुच्चय करके लिखा है–"अविद्यया= शरीर आदि जड पदार्थों से किये गये पुरुषार्थ से"।

मन्त्र में कहा गया है कि विद्या और अविद्या दोनों का सहवेत्ता अविद्यया से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत को प्राप्त होता है। मृत्यु आदि लौकिक दुःखों को पार करने के लिये अविद्या=जड़ शरीर का होना परम आवश्यक है। अतः वेद कहता है— अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा। अमृत अर्थात् परमानन्द का उपभोग चेतन आत्मा से ही होता है। वहां इस जड़ शरीर की आवश्यकता ही नहीं। अतः वेद कहता है—विद्ययाऽमृत-मश्नुते। ऋषि ने भी बड़ा स्पष्ट लिखा है "आत्मा से आनन्द को भोग"।

ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश (नवमसमुल्लास)* में भी किया है। वहां अविद्या का अर्थ कर्मोपासना और विद्या का अर्थ यथार्थ ज्ञान लिखा है। अविद्या का अर्थ जड़ शरीर है और कर्मोपासना उसका दुःख को तरने का साधन है। अतः वहां कर्मोपासना अर्थ लिखा है। इसी प्रकार विद्या का अर्थ चेतन आत्मा है। यथार्थ ज्ञान अमृत प्राप्ति का साधन है अतः वहाँ यथार्थ ज्ञान अर्थ लिखा है। इस प्रकार वेदभाष्य तथा सत्यार्थप्रकाश में किये मन्त्रार्थ का परस्पर समन्वय है।

---

*इसी स्थल ऋषि दयानन्द ने लिखा है—

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥
पातं० द० साधनपादे सू० ॥५॥

यह योग सूत्र का वचन है।" सूत्र की व्याख्या करके आगे लिखा—

"वेत्ति यथावत्तत्त्व पदार्थस्वरूपं यथा सा विद्या—
यथातत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यथा साऽविद्या"

जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्यबुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है अर्थात् कर्म उपासना **अविद्या इसलिये है कि यह बाह्य और आन्तरक्रिया विशेष है ज्ञान विशेष नहीं।**" उपर्युक्त योगदर्शन का सूत्र यजु० ४०-१२ में भी ऋषिभाष्य में दिया गया है। ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में सुस्पष्ट कर दिया कि कर्म बाह्य क्रिया और उपासना आन्तर-क्रिया है ज्ञान विशेष नहीं, अतः कर्म और उपासना ज्ञान=विद्या न होने के कारण अविद्या हैं। योगदर्शन में वर्णित अविद्या का लक्षण कर्म और उपासना पर संगत है, क्योंकि कर्म और उपासना ज्ञान विशेष न होने के कारण विद्या नहीं, अतः अविद्या है, परन्तु ज्ञान के साथ कर्म उपासना का सहचार है। कर्म और उपासना के स्वरूप का परक है। अतः सिद्ध हुआ कि योगदर्शन में वर्णित अविद्या का लक्षण वेद में उपदिष्ट अविद्या=कर्म उपासना पर सुघटित होता है। उपासना को आन्तरक्रिया होने के कारण कर्म होते हुये भी पृथक् बतलाया गया है। जो सज्जन उपासना को ज्ञानरूप समझते हैं, उनको इस स्थल से जान लेना चाहिये कि उपासना भी कर्म का ही आन्तर अंग होने के कारण जड़ है—अविद्या है। —[जगदेवसिंह सिद्धान्ती]

वायुरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता । स्वराडुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

अथ देहान्ते किं कार्यमित्याह ॥

अब देहान्त के समय क्या करना चाहिये इस विषय को कहते हैं ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳस्मर ॥१५॥

संस्कृतार्थः

[हे] (क्रतो) यः करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ, [त्वं शरीरत्यागसमये] (ओ३म्) एतन्नामवाच्यमीश्वरम् (स्मर) पर्यालोचय। (क्लिबे) स्वसाथ्यार्थाय [परमात्मानं स्वस्वरूपं च] (स्मर) (कृतम्) यदनुष्ठितम्, तत् (स्मर)।

[अत्रस्थ] (वायुः) धनंजयादिरूपः (अनिलम्) कारणरूपं वायुम् [अनिलः] (अमृतम्) नाशरहितं कारणम्, [धरति]।

(अथ) (इदम्) (शरीरम्) यच्छीर्यते हिंस्यते तद् आश्रयम् (भस्मान्तम्) भस्म अन्ते यस्य तत्, [भवतीति विजानीत] ॥१५॥

भावार्थः

मृत्युसमयः सदा स्मरणीय इत्याह–

मनुष्यैर्यथा मृत्युसमये चित्तवृत्तिर्जायते, शरीरादात्मनः पृथक्भावश्च भवति, तथैवेदानीमपि विज्ञेयम्।

(भस्मान्तꣳशरीरम्)

एतच्छरीरस्य भस्मान्ता क्रिया कार्या नातो दहनात्परः कश्चित्संस्कारः कर्त्तव्यः।

भाषार्थ

हे (क्रतो) कर्म करने वाले जीव! तू देहान्त के समय (ओ३म्) ओ३म् जिसका निज नाम है उस ईश्वर को (स्मर) चारों तरफ देख (क्लिबे) सामर्थ्य प्राप्ति के लिये परमात्मा और अपने स्वरूप को (स्मर) याद कर (कृतम्) और जो कुछ जीवन में किया है उसको (स्मर) स्मरण कर।

यहां विद्यमान (वायुः) धनंजयादि रूप वायु (अनिलम्) कारण रूप वायु को और अनिल (अमृतम्) नाशरहित कारण को धारण करता है।

(अथ) और (इदम्) यह (शरीरम्) चेष्टादि का आश्रय विनाशी शरीर (भस्मान्तम्) अन्त में भस्म होने वाला होता है, ऐसा जानो ॥१५॥

भावार्थ

जैसे मृत्यु के समय चित्त की वृत्ति होती है, उस समय शरीर से आत्मा पृथक् हो जाता है वैसी ही चित्तवृत्ति तथा शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को जीवन काल में भी समझना चाहिये।

इस शरीर की भस्मान्त क्रिया (अन्त्येष्टि) करनी चाहिये। इस दहन क्रिया के पश्चात् कोई भी संस्कार नहीं करना चाहिये।

(ओ३म् क्रतो स्मर, क्लिबे स्मर)

वर्तमानसमय एकस्य परमेश्वरस्यै-वाज्ञापालनमुपासनं स्वसामर्थ्यवर्द्धनं च कार्यम् ।

जीवन काल में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन और उपासना तथा अपनी शक्ति की वृद्धि करनी चाहिये ।

(कृतꣳस्मर)

कृतं कर्म विफलं न भवतीति मत्वा धर्मे रुचिरधर्मेऽप्रीतिश्च कर्त्तव्या ॥१५॥

किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं होता ऐसा मानकर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रखनी चाहिये ॥१५॥

ऋषि ने इस मन्त्र के 'भस्मान्तꣳशरीरम्' इतने भाग को संस्कारविधि के अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत किया हैं। वेद के इस प्रमाण से सिद्ध किया है कि शरीरसंस्कार अन्त्येष्टि पर्यन्त ही है। अतः अन्त में ऋषि लिखते हैं—"भस्मान्तꣳशरीरम्" यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका है कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। हां यदि वह सम्पन्न हो तो अपने जीते जी वा मरे पीछे उनके सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्त धर्म का प्रचार अनाथपालन वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिये चाहे जितना धन प्रदान करें बहुत अच्छी बात है।

भाष्यनिष्कर्ष

शरीरस्वभाव का वर्णन ॥

यह चेष्टा आदि का आश्रय शरीर अन्त में भस्म होने वाला होता है।

वायु आदि सब पदार्थ नाश रहित कारण प्रकृति को धारण करते हैं ।

समाधि के द्वारा परमेश्वर को आत्मा में स्थापित करके शरीर का त्याग ॥

ईश्वर का वेदोक्त मुख्य निजनाम 'ओ३म्' है । हे मनुष्य ! तू इसका स्मरण कर अर्थात् उसे सब तरफ देख। शक्ति प्राप्त करने के लिये परमात्मा और अपने स्वरूप का स्मरण कर। जो कुछ किया है उसका स्मरण कर । यह स्मरण कार्य जो देहान्त समय करना है वह जीवनकाल में भी कर। जिससे देहान्त समय में तू परमात्मा का स्मरण अर्थात् समाधि के द्वारा परमात्मा को अपने आत्मा में स्थापित करके शरीर का त्याग कर सके।

अन्त्येष्टि के पश्चात् अन्य क्रिया करने का निषेध ॥

इस शरीर की भस्मान्त के पश्चात् अन्य कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये।

स्मर

ऋषि ने स्मर इस पद का अर्थ किया है—पर्यालोचय अर्थात् सब ओर देख। स्मृ धातु स्मरण अर्थ में प्रसिद्ध है। किन्तु यहां 'अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति' के प्रमाण से स्मृ धातु का पर्यालोचन अर्थ किया है। स्मृत धातु के आध्यान, चिन्ता, प्रीति और चलन अर्थ धातु पाठ में मिलते हैं। किन्तु ऋषि का अर्थ इनसे विलक्षण है।

अग्ने नयेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ईश्वरः काननुगृह्णातीत्याह ॥

ईश्वर किन मनुष्यों पर अनुग्रह करता है, इस विषय को कहते हैं ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

संस्कृतार्थः

[हे] (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप करुणामयजगदीश्वर ! [यतो वयं] (ते) तुभ्यम् (भूयिष्ठाम्) बहुतयाम् (नमः, उक्तिम्) सत्कारपुरःसरां प्रशंसाम् (विधेम) परिचरेम [तस्मात्] (विद्वान्) यः सर्वं वेत्ति सः, [त्वम्] (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (जुहुराणम्) कौटिल्यम् (एनः) पापाचरणम् (युयोधि) पृथक् कुरु ।

(अस्मान्) जीवान् (राये) विज्ञानाय, धनाय, वसुसुखाय (सुपथा) धर्म्येण मार्गेण (विश्वानि) अखिलानि (वयुनानि×) प्रशस्यानि प्रज्ञानानि (नय) प्रापय गंमय वा ॥१६॥

(भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम)

ये सत्यभावेन परमेश्वरमुपासते, यथासामर्थ्यं तदाज्ञां पालयन्ति, सर्वोपरि सत्कर्त्तव्यं परमात्मानं मन्यन्ते

तान् दयालुरीश्वरः पापाचरणमार्गात् पृथक्कृत्य धर्म्यमार्गे चालयित्वा विज्ञानं दत्त्वा धर्मार्थकाममोक्षान् साद्धुं समर्थान् करोति ।

भाषार्थ

हे (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) स्वप्रकाश स्वरूप करुणामय जगदीश्वर जिससे हम (ते) तेरे लिये (भूयिष्ठाम्) बहुत अधिक (नम उक्तिम्) सत्कार पूर्वक प्रशंसा (विधेम) करते हैं इससे (विद्वान्) सर्वज्ञ तू (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलता और (एनः) पापाचरण को (युयोधि) दूर कर ।

(अस्मान्) हम जीवों को (राये) विज्ञान, धन, और धन से प्राप्त होने वाले सुख की प्राप्ति के लिये (सुपथा) धर्मपथ से (विश्वानि) सब (वयुनानि) श्रेष्ठ ज्ञान एवं श्रेष्ठ बुद्धि का (नय) प्रदान कर ।

जो सच्ची भावना से परमात्मा की उपासना करते हैं, और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं तथा सब से अधिक सत्कार करने के योग्य परमात्मा को मानते हैं—

उनको दयालु ईश्वर पापाचरण के मार्ग से हटाकर, धर्म मार्ग में चलाकर, उन्हें विज्ञान देकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये समर्थ बना देता है ।

× वयुनामिति, प्रशस्यनामसु । निघं० ३।८ ॥ प्रज्ञानामसु । निघं० ३।९॥

शिक्षामाह—

तस्मात् सर्व एकमद्वितीयमीश्वरं विहाय करयाप्युपासनं कदाचिन्नैवं कुर्युः ॥१६॥

इसलिये सबको एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़कर किसी की भी उपासना कभी भी नहीं करनी चाहिये ॥१६॥

ऋषि ने यह मन्त्र सत्यार्थप्रकाश (सप्तमसमुल्लास) के प्रार्थनाप्रकरण में उद्धृत किया है । वहां इसके व्याख्यान में यह विशेष लिखा है कि—"आप हमको पवित्र करें" ।

संस्कारविधि के ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना प्रकरण में भी ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान किया है । वहां निम्न पदों की व्याख्या में इतना विशेष लिखा है—अग्ने=ज्ञानस्वरूप । देव=सकलसुखदाता परमेश्वर । राये=राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये । वयुनानि=उत्तम कर्म । विधेम=और सदा आनन्द में रहें ।

संस्कारविधि के संन्यासप्रकरण में संन्यासी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उल्लेख करते हुये ऋषि ने मन्त्र की व्याख्या की है । वहां निम्न पदों की व्याख्या में इतना और विशेष लिखा है—अग्ने=सब दुःखों के दाहक । राये=योगविज्ञान धन की प्राप्ति के लिये । जुहुराणम्=कुटिल पक्षपात सहित । युयोधि=इस अधर्माचरण से हमको सदा दूर रखिये ।

भाष्यनिष्कर्ष

अधर्म के परित्याग और धर्म की वृद्धि के लिये परमेश्वर की प्रार्थना का उपदेश ॥

धर्माचरण से विज्ञान, धन और धन से होने वाले सुख की प्राप्ति होती है । कुटिलता और पापाचरण रूप अधर्म दुःख का कारण है । जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं, सच्ची भावना से उसकी प्रार्थना उपासना करते हैं, उन्हें परमात्मा श्रेष्ठ विज्ञान प्रदान करता है और उनको अधर्म से पृथक् करके धर्म मार्ग में चलाता है ।

—:o:—

हिरण्मयेनेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथान्ते मनुष्यानीश्वर उपदिशति॥
अब अन्त में मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

संस्कृतार्थः

[हे मनुष्याः! येन] (हिरण्मयेन) ज्योतिर्मयेन (पात्रेण) रक्षकेण मया (सत्यस्य) अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य (अपिहितम्) आच्छादितम् (मुखम्) मुखवदुत्तमाङ्गम् [विकाश्यते]।

(यः) (असौ) (आदित्ये) प्राणे सूर्यमण्डले वा (पुरुषः) पूर्णः परमात्मा [अस्ति] (सः) (असौ) (अहम्) (खम्) आकाशवद् व्यापकम् (ब्रह्म) सर्वेभ्यो गुणकर्म स्वभाव रूपतो बृहत् [अस्मि] (ओ३म्) योऽवति सकलं जगत्तदाख्या, [इति विजानीत] ॥१७॥

भाषार्थ

हे मनुष्यो! जिस (हिरण्मयेन) ज्योति से परिपूर्ण (पात्रेण) सबके रक्षक मेरे द्वारा (सत्यस्य) कभी नष्ट न होने वाले, सत् रूप कारण (प्रकृति का (अपिहितम्) टके हुये (मुखम्) मुख के समान उत्तम अङ्ग का विकाश किया जाता है।

(यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) प्राण वा सूर्यमण्डल में (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा है (सः) वह (असौ) परोक्ष (अहम्) मैं (खम्) आकाश के समान व्यापक (ब्रह्म) गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि से सब से बड़ा हूँ (ओ३म्) मैं सब जगत् का रक्षक 'ओ३म्' हूँ ऐसा तुम जानो ॥ १७ ॥

भावार्थः

सर्वान् मनुष्यान् प्रतीश्वर उपदिशति–

(योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्)

हे मनुष्या! योऽहमत्रास्मि स एवान्यत्र सूर्यादौ, योऽन्यत्र सूर्यादावस्मि स एवात्रास्मि सर्वत्र परिपूर्णः।

(ओ३म् खं ब्रह्म)

खवद्व्यापको न मत्तः किञ्चिदन्येद् बृहदहमेव सर्वेभ्यो महानस्मि मदीयं सुलक्षणपुत्रवत् प्राणप्रियं निजस्य नामो३मिति वर्तते।

भावार्थ

सब मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है—

हे मनुष्यो! जो मैं यहाँ हूँ वही अन्यत्र सूर्य आदि में हूँ और जो अन्यत्र सूर्य आदि में हूँ वही यहाँ। हूँ मैं सर्वत्र परिपूर्ण—

आकाश के समान व्यापक हूँ। मुझसे कोई भी दूसरा बड़ा नहीं है मैं ही सबसे महान् हूँ। मेरा सुन्दर पुत्र के समान प्राणों से प्यारा निज नाम 'ओ३म्' है।

(हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्)

यो मम प्रेमसत्याचरणाभ्यां शरणं गच्छति तस्यान्तर्यामिरूपेणाहमविद्यां विनाश्य तदात्मानं प्रकाश्य शुभगुणकर्मस्वभावं कृत्वा सत्यस्वरूपाचरणं स्थापयित्वा शुद्धं योगजं विज्ञानं दत्त्वा सर्वेभ्यो दुःखेभ्यः पृथक् कृत्य मोक्षसुखं प्रापयामीत्योऽम् ॥१७॥

जो मेरी प्रीति और सत्याचरण के द्वारा शरण में आता है मैं उस की अन्तर्यामी अविद्या को समाप्त करके उसकी आत्मा को प्रकाशित कर, शुभ गुण कर्म स्वभाव बना कर सत्य आचरण को स्थापित कर, योग से उत्पन्न शुद्ध विज्ञान देकर सब दुःखों से छुड़ा कर मोक्ष सुख प्रदान करता हूँ। यजुर्वेदभाष्य की समाप्ति पर अन्त में 'ओ३म्' का नाम स्मरण किया है ॥१७॥

वेदों में परमेश्वर के नामों का वर्णन है और परमेश्वर के 'ओ३म्' आदि नाम सार्थक हैं इस की सिद्धि में ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश (प्रथमसमुल्लास) में इस मन्त्र के 'ओ३म् खं ब्रह्म' इस अंश को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। परमेश्वर का नाम ओम् है इस की सिद्धि में उक्त मन्त्रांश ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदविषयविचार) में भी प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है।

भाष्यनिष्कर्ष

ईश्वर के स्वरूप का वर्णन ॥

ईश्वर ज्योतिस्वरूप और सबका रक्षक है। वही अन्धकार से आवृत प्रकृति का विकाश करता है। वही सूर्यमण्डल में भी विराजमान है।

परमात्मा का मुख्य नाम ओ३म् ॥

परमात्मा का सर्वोत्तम नाम 'ओ३म्' है वह आकाश को समान व्यापक गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि से सबसे बड़ा है।

—•—

चत्वारिंशाध्यायस्य विषयसूची

ईशावास्यछं० ॥१॥

१-ईश्वरगुणकर्मवर्णनम् ।	१-ईश्वर के गुण कर्मों का वर्णन ।
२-अधर्मत्यागोपदेशः ।	२-अधर्म त्याग का उपदेश ।

कुर्वन्नेवेह० ॥ २ ॥

३-सर्वदा सत्कर्मानुष्ठानावश्यकत्वम् ।	३-सर्वदा सत्कर्म का अनुष्ठान आवश्यक ।

असुर्या नाम० ॥३॥

४-अधर्माचरण निन्दा ।	४-अधर्म आचरण की निन्दा ।

अनेजदेकं० ॥४॥

५-परमेश्वरस्यातिसूक्ष्मस्वरूपवर्णनम् ।	५-परमेश्वर के अतिसूक्ष्म स्वरूप का वर्णन ।

तदेजति० ॥५॥

६-विदुषां ज्ञेयत्वमविदुषामविज्ञेयत्वम् ।	६-विद्वानों के लिए ज्ञेय और अविद्वानों के लिये अज्ञेय ।

यस्तु सर्वाणि० ॥६॥

यस्मिन् सर्वाणि० ॥७॥

७-सर्वत्रात्मभावेनाहिंसाधर्मपालनम् तेन मोहशोकादित्यागः ।	७-सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा धर्म का पालन और उससे मोह शोकादि का त्याग ।

स पर्यगाच्छुक्र० ॥८॥

८-ईश्वरस्य जन्मादिदोषराहित्यम् ।	८-ईश्वर का जन्म आदि दोषों से रहित होना ।
९-वेदविद्योपदेशनम् ।	९-वेदविद्या का उपदेश ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति० इत्यादि ॥

९ । १० । ११ ॥

१०-कार्यकारणात्मकस्य जड़स्योपासन-निषेधस्ताभ्यां कार्यकारणाभ्यां मृत्युं निवार्य मोक्षसिद्धि करणम् ।	१०-कार्य कारण स्वरूप जड़ वस्तु की उपासना का निषेध, उन कार्य और कारण से मृत्यु को हटाकर मोक्ष की सिद्धि करना ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति० इत्यादि ॥

१२ । १३ । १४॥

११-जडवस्तुन उपासननिषेधश्चेतनोपासन-विधिस्तदुभयस्वरूपविज्ञानाऽऽवश्यकत्वम् ।	११-जड़ वस्तु की उपासना का निषेध चेतन की उपासना का विधान और दोनों के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक ।

वायुरनिलममृत० ।।१५।।

१२-शरीरस्वभाव वर्णनम् ।	१२-शरीर के स्वभाव का वर्णन ।
१३-समाधिना परमेश्वरमात्मनि निधाय शरीरत्यागकरणम् ।	१३-समाधि के द्वारा परमेश्वर को आत्मा में स्थापित करके शरीर का त्याग करना ।
१४-शरीरदाहा दूर्ध्वमन्यक्रिया ऽनुष्ठान-निषेधः ।	१४-अन्त्येष्टि के पश्चात् अन्य क्रिया करने का निषेध ।

अग्ने नय सुपथा०।।१६।।

१५-अधर्मत्यागाय धर्मवर्द्धनाय परमेश्वर-प्रार्थनम् ।।	१५-अधर्म के परित्याग और धर्म की वृद्धि के लिए परमेश्वर से प्रार्थना।

हिरण्मयेन पात्रेण ।।१७।।

१६-ईश्वरस्वरूपवर्णनम् ।	१६-ईश्वर के स्वरूप का वर्णन ।
१७-सर्वेभ्योनामभ्य ओ३म् इत्यस्य प्राधा-न्यप्रतिपादनं च कृतम् ।	१७-सब नामों से 'ओ३म्' इस परमात्मा के नाम की मुख्यता का प्रतिपादन ।

इससे इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ संगति है यह जानना चाहिये ।।

पूर्व अध्याय में अन्त्येष्टि कर्म का वर्णन है । इस अध्याय में शरीर के स्वभाव का वर्णन है कि वह भस्मान्त होने वाला है । मृत्यु अर्थात् शरीर से आत्मा पृथक् हो जाता है इससे विवेक ज्ञान का उपदेश किया है । इसी प्रकार समस्त कार्य जगत् और कारण प्रकृति का भी वर्णन है । जड़ और चेतन अर्थात् विद्या और अविद्या का विद्वानों के सङ्ग से विवेक ज्ञान प्राप्त करके उनका यथावत् उपयोग करें । अविद्या के द्वारा मृत्यु दुःख से पार होकर विद्या के द्वारा अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने का उपदेश है । इस प्रकार सम्पूर्ण अध्याय में अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रधान साधन, उपर्युक्त विषयों का वर्णन ऋषि ने वेदभाष्य में दर्शाया है। जिनकी पूर्व अध्याय से संगति के लिये संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

१–धर्माचरण अभ्युदय और निःश्रेयस का कारण है । अधर्माचरण दुःख का मूल है। सकलैश्वर्यसम्पन्न सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सब का नियन्ता जो ईश्वर है उसी का भय मनुष्य को अधर्माचरण से हटाता है ।

२–सर्वदा सत्कर्म का अनुष्ठान ही दुःखमूलक अधर्माचरण रूप दुष्कर्म के लेप से बचने का एकमात्र उपाय है ।

३—अधर्माचरण करने वाले असुर इस लोक और परलोक में भी घोर दुःखों को प्राप्त होते हैं। अतः अधर्माचरण की निन्दा की गई है।

४-अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फलों का प्रदाता परमेश्वर है। अतः उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराया गया है।

५—सर्वत्र व्यापक, आत्मा के अति निकट विद्यमान ईश्वर के सम्यग्दर्शन से विद्वान् के सब संशय नष्ट हो जाते हैं। अविद्याजन्य मोह शोकादि की निवृत्ति से मुक्ति की प्राप्ति होती है। वह सूक्ष्म ब्रह्म किसको प्राप्त है और किसको अप्राप्त है तथा उसकी प्राप्ति किस प्रकार होती है इस विषय का वर्णन किया गया है।

६—ईश्वर जन्म मरण आदि से रहित है इत्यादि परमेश्वर के सच्चे स्वरूप के उपदेश से परमात्मा के सम्बन्ध में होने वाले, मिथ्याज्ञान का निराकरण किया गया है।

७—सर्वज्ञ प्रभु ने अपनी प्रजा के कल्याण के लिये वेद विद्या का उपदेश किया है। वेद ज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं।

८—कार्य, कारण वस्तु उपासनीय नहीं किन्तु मृत्यु दुःख को निवृत्ति तथा मोक्ष की सिद्धि के लिए है।

९—चेतन के स्थान पर जड़ वस्तु की उपासना से अज्ञान; अधर्म और दुःख की प्राप्ति होती है। चेतन परमात्मा की उपासना अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति में कारण बनती है। इस प्रकार अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु दुःख को तरकर विद्या अर्थात् यथार्थज्ञान से मोक्ष प्राप्ति का उपदेश किया है।

१०—शरीर के स्वभाव का ज्ञान अर्थात् यह शरीर भस्मान्त है। आत्मा शरीर से पृथक् हो जाता है अर्थात् मृत्यु ही विवेकज्ञान का मूल करण है। यह विवेक ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य कहलातो है। इसी से ऋषि दयानन्द आदि सच्चे मुमुक्षु बने। मुमुक्षुत्व ही मुक्ति का सर्वप्रथम मुख्य साधन है।

११—अधर्माचरण के त्याग के लिये और अभ्युदय और निःश्रेयस के मूल कारण धर्माचरण को ग्रहण करने के लिए आत्मिक उत्साह एवं उल्लास की आवश्यकता है। सब प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सहायता परमावश्यक है। अतः ईश्वर की स्तुति और उससे प्रार्थना करने का वर्णन किया गया है।

१२—अन्त में स्तुति प्रार्थना उपासना तथा स्मरण करने योग्य ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया गया है तथा उसके निज नाम ओ३म् के साथ यजुर्वेदभाष्य की समाप्ति की गई है। क्योंकि परमेश्वर ही सब सत्य विद्याओं का और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल है।

इस प्रकार इस अध्याय में वर्णन किया गया सब विषय प्रथम अध्याय में प्रतिपादित अन्त्येष्टि कर्म के साथ सुसंगत है।

यजुर्वेदभाष्य (४० अ०) विषयसूची ॥

ईश्वर ॥

ईश्वर का निज नाम—ईश्वर का निजनाम ओ३म् है (१५, १७)। ईश्वर के ओ३म् आदि नाम सार्थक हैं (१७)। ओ३म् नाम के साथ वेदभाष्य की समाप्ति (१७)॥

ईश्वर का स्वरूप—सर्वत्र व्यापक (१, ४, ५, ६, ८; १७)। सर्वशक्तिमान् (१, ८)। अन्तर्यामी (१, ६)। सनातन (६, ८)। सर्वज्ञ (६, ८, १६)। सकलैश्वर्यसम्पन्न (१)। अद्वितीय, कम्पनरहित अर्थात् अपनी अवस्था से अविचल, मन से भी अधिक वेगवान् अर्थात् जहां जहां मन जाता है वहां वहां पहले से ही विद्यमान, सबका अग्रणी, सर्वगत, अविद्वान् तथा चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा अलभ्य, स्थिर (४)। आत्मा का भी आत्मा, अचलायमान (५)। शीघ्रकारी तीनों प्रकार के शरीर से रहित, छिद्ररहित अर्थात् परमाणु भी उसमें छिद्र नहीं कर सकता (अखण्ड, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध अर्थात् अविद्यादि दोषों से रहित (सदा पवित्र), पाप रहित, स्वयम्भू अर्थात् (संयोगजन्य उत्पत्ति रहित एवं वियोगजन्य-विनाश रहित, जिसका माता पिता कोई नहीं गर्भवास और जन्म से रहित, वृद्धि और क्षय से रहित, सदा मुक्त) सब के ऊपर विराजमान, अनन्त, कभी अवतार धारण नहीं करता, त्रैकालज्ञ, सबके मन का दमन करने वाला (८)। सत्, चित्, आनन्द (६)। अविनाशी (१४) दिव्य स्वरूप, स्वप्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, करुणामय (१६)। ज्योति से परिपूर्ण प्राण एवं सूर्यमण्डल में परिपूर्ण, आकाश के समान व्यापक, गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि से सबसे बड़ा (१७)॥

ईश्वर के कार्य—जगत् का नियन्ता (१, ४, ८)। सर्वद्रष्टा और न्यायाधीश (२, ५, ६, ८)। पुरुषार्थी एवं परोपकारी का सहायक (८)। जीवों का धारक (४)। मनीषी अर्थात् सब जीवों की मनोवृत्ति का ज्ञाता, परिभू अर्थात् पापियों का तिरस्कारक, सृष्टिकर्ता, स्वयं कभी अवतार धारण नहीं करता (८)। सकल सुखदाता, राज्यादि ऐश्वर्य का देने वाला, विज्ञान धन का प्रदाता (१६)। सब जगत् का रक्षक, ढकी हुई प्रकृति का विकाशकर्ता॥

ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना एवं स्मरण—

स्तुति—ईश्वर की सगुण और निर्गुण स्तुति का वर्णन, अपने चरित्र सुधार के विना परमात्मा की स्तुति करना व्यर्थ (८)। परमात्मा का बहुत अधिक सत्कार पूर्वक प्रशंसा (स्तुति) करने का विधान (१६)। स्तुति का लक्षण और लाभ (१६)॥

प्रार्थना—परमात्मा से आत्मा को पवित्र करने की प्रार्थना, धर्मपथ से श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ बुद्धि की प्राप्ति के लिए प्रार्थना, ईश्वर प्रार्थना से प्राप्त श्रेष्ठ ज्ञान का फल—१. विज्ञान २. धन ३. धन से प्राप्त होने वाले सुख, जगदीश्वर से कुटिलता और पापाचरण दूर करने की प्रार्थना; हम सदा आनन्द में रहें, अधर्मत्याग और धर्मवृद्धि के लिये परमेश्वर से प्रार्थना (१६)। प्रार्थना का लक्षण और उसके लाभ (१६)॥

उपासना—ब्रह्म ही उपासनीय है (५, ८, ६, १२, १६)। मूर्तिपूजा का खण्डन (८)। ईश्वर से भिन्न की उपासना का निषेध (६, १०, १२,१३,१६)। सच्ची भावना से उपासना करने वाले को परमात्मा किस प्रकार क्या-क्या फल प्रदान करता है (१६ भावार्थ)। उपासना का लक्षण और उसके लाभ (१६)। प्रीति और सत्याचरण के द्वारा शरण में आने वाले मनुष्य को परमात्मा क्या क्या प्रदान करता है (१७ भावार्थ)॥

ओ३म् का स्मरण— हे जीव! तू जीवन काल में ओ३म् इस नाम से वाच्य ईश्वर का स्मरण कर अर्थात् उसको सब तरफ देख (१५)॥

ईश्वर का वेदोपदेश—परमात्मा अपनी प्रजा के लिए वेद के द्वारा सब पदार्थों का यथार्थता से उपदेश करता है। वेदोपदेश के विना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्मा का वेदोपदेश प्रजा के कल्याण के लिये है। परमात्मा का ज्ञान होने से वेद नित्य हैं। परमात्मा के उपदेश (वेद) के विना कोई भी विद्वान् नहीं हो सकता। वेद-पुस्तक ही ईश्वर कृत है अन्य नहीं (८)॥

(२) आत्मा॥

आत्मा का लक्षण—ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन वस्तु ज्ञाता कहलाता है (१२)। अविनाशी (१४)। कर्मों का करने वाला जीव (१५)।

आत्मा का आधार—जैसे अन्तरिक्ष में वायु वैसे ही ब्रह्म में जीव क्रियाशील है (४)।

ईश्वर की प्रजाभूत आत्मा का स्वरूप—सनातन, अनादि, अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश रहित (८)।

देवात्मा—देव और आर्य पर्यायवाची हैं। देव आत्मा, मन, वाणी और कर्म में एक होते हैं। आत्मा में स्थित ज्ञान के अनुकूल कहते, मानते और करते हैं (३)॥

देवात्मा के कार्य—देवों का आचरण कपट रहित होता है। देव सौभाग्यशाली एवं जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं॥

देवात्मप्रशंसा—देव आनन्द युक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त करते हैं। देव इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं (३)॥

असुरात्मा का लक्षण—दैत्य, राक्षस, पिशाच, दुष्ट ये असुर के पर्यायवाची हैं। अज्ञान से आवृत, आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले, प्राणपोषण में तत्पर, अविद्यादि दोषों से युक्त पापकर्मी, आत्मा वाणी और कर्म से एक न रहने वाले असुर कहलाते हैं (३)॥

असुर निन्दा—असुर अविद्या रूप दुःख सागर में पड़े रहते हैं। असुर कभी भी आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। असुर दुःखदायक देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं। असुर इस लोक और परलोक में दुःखी रहते हैं (३) ॥

विद्वान् (धर्मात्मा) का लक्षण—सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक, विचारशील को विद्वान् कहते हैं। विद्वान् प्रकृति आदि पदार्थों में परमात्मा को तथा परमात्मा में प्रकृत्यादि सब जड़ चेतन पदार्थों को विद्यमान देखता है। सम्यग्दर्शन का फल—जड़ चेतन में व्यापक परमात्मा के सम्यग्दर्शन से विद्वान् के सब सन्देहों की निवृत्ति ॥

अविद्वान् (अधर्मात्मा) का लक्षण—विचारशून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वर-भक्तिरहित व्यक्ति अविद्वान् कहलाता है।

धर्मात्मा—सुख दुःख, हानि लाभ में अपनी आत्मा के समान सब प्राणियों को समझकर व्यवहार करने वाला (६)। ब्रह्म धर्मात्माओं के अति निकट उनकी आत्मा में स्थित है (५)। धार्मिक ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं (६) ॥

धीर का लक्षण—मेधावी, विद्वान् योगी को धीर कहते हैं (१०) ॥

संन्यासी के लक्षण—परमात्मा ज्ञान, विज्ञान अथवा धर्म का सम्यग्ज्ञाता, सब प्राणियों को अपने आत्मा के समान समझने वाला, परमात्मा के एकत्व का योगाभ्यास से साक्षात् द्रष्टा, मोह शोकादि से रहित, सब प्राणियों का हितचिन्तक, आत्मा को जानकर अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञाता, संन्यासी कहलाता है। ऐसे समदर्शी योगी संन्यासी सदा सुखी रहते हैं (७) ॥

कारण कार्य का विवेकी आत्मा—

कारण (प्रकृति) का लक्षण—अनादि, उत्पत्ति रहित, (९-१०)। सत्त्व रज तम गुण रूप, जड़, सम्पूर्ण जड़ जगत् का आदिकारण, नित्य (६)। विनाश=जिसमें सब पदार्थ अदृश्य हो जाते हैं (११)। अविनाशी, सत् स्वरूप (१७) ॥

प्रकृति-उपासकों की निन्दा—परमेश्वर को छोड़कर प्रकृति के उपासक अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं (९) ॥

कार्य (स्थूल जगत्) का लक्षण—जगत् चलायमान है (१)। महत्तत्त्वादि स्वरूप में परिणत। कारणभूत प्रकृति से उत्पन्न। पृथिव्यादि स्थूल रूप। अनित्य (६)। संयोग से उत्पन्न (९, १०)। शरीर इन्द्रिय अन्तःकरण रूप (११)। जिसमें सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं (११)।

जगत् की अवधि—जगत् की अवधि प्रकृति से लेकर पृथ्वीपर्यन्त है (१)।

जगत् के दो प्रकार—जड़ चेतन भेद से जगत् दो प्रकार है (१)।

कर्मोपासकों की निन्दा—सृष्टि में ही रमण करने वाले अधिक अविद्यान्धकार में पड़े रहते हैं (९)॥

कार्यकारण का विवेक ज्ञान पूर्वक उपयोग—सब मनुष्यों को कार्य कारण का जानना और जनाना आवश्यक है। विद्वान् लोग कार्य और कारण से भिन्न-भिन्न उपकार ग्रहण करते और करवाते हैं। विद्वान् लोग कार्य और कारण के गुणों को स्वयं जानते और अन्यों को जनाते हैं। कार्यकारण के विवेक ज्ञान से उनके पृथक्-पृथक् फलों को समझो (१०)। कार्य कारण के गुण कर्म स्वभावों को जानकर मोक्ष सिद्धि में उपयोग करो (११)।

कार्य कारण की आवश्यकता—मृत्यु दुःख से पार होकर अमृत को प्राप्त करने के लिये कार्य और कारण दोनों का ज्ञान आवश्यक। कार्य और कारण निरर्थक नहीं। धर्म में प्रवृत्त होने के लिये सृष्टि आवश्यक। कार्य कारण की नित्यता के ज्ञान से मृत्यु को हटाओ और मोक्ष को साधो (११)।

कार्यकारण की उपासना का निषेध—कार्य कारण उपासनीय नहीं है अपितु उपयोग में लाने योग्य है। परमेश्वर के स्थान में कार्य कारण की उपासना नहीं करनी चाहिये (११)॥

इस प्रकार योगी आत्मायें कार्य कारण का विवेक पूर्वक ज्ञान प्राप्त करके उनको मोक्षसिद्धि में समुचित प्रयोग करती हैं।

विद्या (चेतन एवं यथार्थज्ञान) अविद्या (जड़) का विवेकी आत्माः—

विद्या का लक्षण—शब्द अर्थ सम्बन्ध का ज्ञान मात्र। (१२)॥

विद्यारत का लक्षण—शब्द अर्थ सम्बन्ध मात्र संस्कृत भाषा के ज्ञाता, सत्य-भाषण रहित, पक्षपातरहित न्यायाचरण रूप धर्म का अनुष्ठान न करने वाला, अभिमानी, विपरीत आचरण से अविद्या का मान तथा विद्या का अपमान कर्त्ता (१२)॥

विद्यारत की निन्दा—विद्या के उपासक अज्ञान दुःख सागर में पड़े सदा दुःखी रहते हैं (१२)॥

विद्या लक्षण (२)—आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के सहयोग से उत्पन्न यथार्थ-ज्ञान (१४)॥

विद्या के साधक—विद्या और उसके साधक उपसाधनों का ज्ञान आवश्यक है (१४)। विद्या का साधक चेतन पदार्थ है (१४)।

विद्या का पंगुत्व—केवल ज्ञान (विद्या) से धर्मादि की सिद्धि नहीं हो सकती (१४)। केवल चेतन (विद्या) से धर्मादि की सिद्धि नहीं हो सकती (१४)॥

विद्या का फल—विद्या के प्रयोग से परमार्थिक सम्बन्धी प्राप्ति होती है (१४)।

अविद्या का लक्षण—अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा जानना अविद्या है। ज्ञानादि गुणों से रहित कार्य कारण रूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु। अविद्यादि पांच क्लेश १ अविद्या २–अस्मिता ३–राग ४—द्वेष ५—अभिनिवेश अविद्या रूप वस्तु ज्ञेय है (१२)। प्रकृत्यादि कारण तथा शरीर आदि कार्य वस्तु। शरीर आदि जड़ पदार्थों से किया गया पुरुषार्थ अर्थात् कर्म और उपासना (१४)॥

अविद्या के साधक—अविद्या और उसके उपयोगी नाना साधनों का ज्ञान आवश्यक (१४)। अविद्या का साधक जड़ पदार्थ है (१४)॥

अविद्या का पंगुत्व—केवल अविद्या (जड़) से धर्मादि की सिद्धि नहीं हो सकती (१४)। केवल कर्म से धर्मादि की सिद्धि नहीं हो सकती (१४)॥

अविद्या की आवश्यकता—अविद्या (जड़) के बिना परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकता (१४)। जीव, कर्म, उपासना और ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता (१४)।

अविद्या का उपयोग—आत्मज्ञानी विद्वानों ने बतलाया है कि अविद्या शरीर आदि जड़ पदार्थ के प्रयोग से लौकिक दुःख की निवृत्ति करो (१४)।

लौकिक दुःख (मृत्यु) का लक्षण—शरीर और आत्मा के वियोग से उत्पन्न दुःख (११) प्राणत्याग में उत्पन्न होने वाले दुख से भय (१४)।

अविद्योपासक की निन्दा—अविद्या के उपासक गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं (१२)। अविद्यादि दोषों से युक्त मनुष्य महान् दुःख सागर में डूबते हैं (१२)॥

इस प्रकार विद्या और अविद्या का विवेकज्ञान प्राप्त करके पवित्र आत्मायें अमृत को प्राप्त करती हैं।

विद्या और अविद्या का सहज्ञान—जड़ और चेतन वस्तु के स्वरूप का साथ साथ ज्ञान आवश्यक है (१३–१४)।

विद्या और अविद्या से रहित होना असम्भव—कर्म उपासना और ज्ञान के विना कोई भी एक क्षण के लिये भी खाली नहीं रह सकता (१४)।

विद्या और अविद्या का उपयोग—जड़ और चेतन वस्तु का उपयोग पृथक् पृथक् है (१३)।

उपयोगज्ञान के साधन—१. विद्वानों का संग २. विज्ञान ३. योग ४. धर्माचरण।

विद्या और अविद्या का फल—आत्मज्ञानी विद्वानों द्वारा कथित विद्या और अविद्या का फल जानना मनुष्य के लिये आवश्यक (१३)। विद्या और अविद्या का धर्म अर्थ काम मोक्ष की सिद्धि में साथ-साथ प्रयोग करो (१४)।

विद्या और अविद्या उपासनीय नहीं—परमेश्वर से भिन्न उपासनीय नहीं हो सकता किन्तु वह उपकार ग्रहण करने योग्य है (१२)।

अन्त्येष्टि कर्म द्वारा शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का विवेक—

शरीर का लक्षण—यह शरीर चेष्टादि का आश्रय है। शरीर का स्वभाव भस्मान्त है अर्थात् अन्त में राख हो जाने वाला (१५)।।

शरीर और आत्मा का सम्बन्ध—देहान्त के समय आत्मा शरीर से पृथक् हो जाता है ? (१५)।

शरीर त्याग की वैदिक विधि—समाधि के द्वारा परमेश्वर को आत्मा में स्थापित करके शरीर का त्याग करना चाहिए (१५)।

देहान्त के पश्चात् प्राणों की अवस्था—शरीर में विद्यमान धनंजय आदि प्राण अपने कारण भूत वायु (अनिल) में लीन हो जाते हैं। कारण भूत वायु नाश रहित सूक्ष्म वायु में मिल जाता है (१५)।

अन्त्येष्टि कर्म—शरीर की भस्मान्त क्रिया का विधान। शरीर के संस्कारों की अवधि अन्त्येष्टि कर्म है। अन्त्येष्टि के पश्चात् अन्य संस्कार का निषेध (१५)।

मृतक के लिये कर्त्तव्याकर्त्तव्यः—१-भस्मान्त क्रिया (दाहकर्म। २-अस्थि-संचयन। ३-इसके अतिरिक्त अन्य कोई कर्म कर्त्तव्य नहीं (१५)।

देहान्त के समय स्मर्तव्य—हे जीव तू देहान्त के समय सब ओर ओ३म् को देख (१५)। जीवनकाल में किये कर्मों का स्मरण करने का विधान। सामर्थ्य प्राप्ति के लिये परमात्मा तथा आत्मा का स्मरण।

जीवन काल में स्मरणीय—देहान्त के समय होने वाली चित्रवृत्ति तथा शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का स्मरण जीवन काल में भी आवश्यक।

ईश्वर प्राप्ति अर्थात् मोक्ष

ब्रह्म का साक्षात् किसको—ब्रह्म का साक्षात्कार धार्मिक विद्वान् योगी को ही होता है (४)। विषयों की ओर भागने वाली इन्द्रियाँ ब्रह्मस्वरूप से भिन्न हैं अतः उनके द्वारा ब्रह्म अलभ्य है (४)। चक्षु आदि इन्द्रियों एवं अविद्वानों के द्वारा ब्रह्म अदृश्य (४)। विषय ग्रस्त ब्रह्म का साक्षात् नहीं कर सकते (४)। ब्रह्म विद्वानों के लिये ज्ञेय और अविद्वानों के लिये अज्ञेय है। ब्रह्म विद्वानों के निकट और अविद्वानों से दूर है। ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाले धर्मात्मा ब्रह्म विद्वान् योगियों के ब्रह्म समीप है। धर्मात्मा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने

वाले अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से ब्रह्म दूर है। अधर्मात्मा ब्रह्म को नहीं जान सकते (५)।

मोक्ष के साधन—ब्रह्म का ज्ञान शुद्ध मन से (४)। परमात्मदर्शनार्थ विद्वान् के लिये विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास आवश्यक (६)। सम्यग्दर्शन से सन्देह निवृत्ति (६)। सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा धर्म का पालन (७)। धर्मयुक्त सत्यभाषण आदि कर्म करना और अधर्मयुक्त असत्य भाषण आदि कर्म का छोड़ देना (१४)। पवित्र कर्म, पवित्रोपासना, पवित्रज्ञान (१४)।

ईश्वरोपासना का फल—सच्ची भावना से परमात्मा की उपासना से परमात्मा मनुष्य को पापाचरण से हटा देता है और धर्म मार्ग में प्रवृत्त कर देता है एवं विज्ञान प्राप्त करा देता है अविद्या का नाश करा देता है शुभ गुण कर्म अर्थात् सत्याचरण को स्थापित कर देता है योगज शुद्ध विज्ञान की प्राप्ति द्वारा मोक्षानन्द प्राप्त करा देता है (१६)। आत्मा से आनन्द को भोग (१) अभ्युदय और निःश्रेयस को भोग (१)। सर्वदा आनन्द में रह (१)

॥ धर्माचरण ॥

आत्मा के लिये धर्माचरण का उपदेश—सर्वद्रष्टा ईश्वर से डर। अन्याय से किसी के धन की अभिलाषा मत कर (१)। परमात्मा की आज्ञा मान। धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को कर वेदोक्त उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की उन्नति कर। आलस्य का त्याग कर पुरुषार्थी अशुभ कर्मों को छोड़। शुभ कम कर। ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त कर। उपस्थेन्द्रिय के संयम से बल को बढ़ा। अल्पायु को हटा। युक्त आहार बिहार से सौ बर्ष की आयु प्राप्तकर। सौ वर्ष जीने की इच्छाकर [२] सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा का पालन कर। सब प्राणियों के साथ आत्मा के समान व्यवहार करना सन्यासी का कर्त्तव्य (६)। अन्याय आचरण के त्याग से धार्मिक बन (११)। धर्मयुक्त सत्यभाषण आदि कर (१४)।

जीवन काल में कर्त्तव्य कर्म—परमेश्वराज्ञापालन, परमेश्वरोपासना, अपनी शक्ति की वृद्धि, वेद विद्या का प्रचार वेदोक्त धर्म का प्रचार, अनाथों का पालन, वेदोक्त धर्मोपदेश के लिये खूब दिल खोलकर दान (१५)। कर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रख (१५)।

धर्माचरण से जग का उपयोग—जगत् में विद्यमान वस्तुयें किसी की नहीं अतः अन्यायाचरण के परित्याग एवं रागरहित होकर जगत् का उपभोग कर (१)।

कर्मों का फल अनिवार्य—किये हुए कर्म का फल अवश्य मिलता है।

धर्माचरण का फल—धर्मयुक्त कर्मों से दुष्कर्मों के लेप का अभाव (२)। दुष्कर्मों के लेप को दूर करने के लिये धर्मयुक्त कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान से पापकर्मों से बुद्धि की निवृति। शुभकर्मों से विद्या आयु सुशीलता आदि की वृद्धि (२)।

ऋषि का वेदभाष्य और आर्य विद्वान्

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन-काल में प्राणिमात्र के कल्याण के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। उन सब में परमात्मा की कल्याणी वाणी वेद का भाष्य अपना विशेष स्थान रखता है। उनके जीवन का अधिकतर अमूल्य समय वेदभाष्य के कार्य में ही लगा। उनके रचे 'सत्यार्थप्रकाश', "संस्कारविधि" 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका,' आदि ग्रन्थों का प्रचार बहुत हुआ किन्तु आर्यों ने उनके रचे अमूल्य ग्रन्थ रत्न वेदभाष्य का प्रचार नहीं किया। महर्षि के वेदभाष्य को न अपनाकर विद्वानों ने अपने वेदभाष्यों की रचना की और उन्हीं का प्रचार किया।

वेदभाष्य का कार्य ऐसा है कि जिसमें केवल पाण्डित्य के बल पर कोई विद्वान् सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। केवल विद्या के बल पर किये गये वेदभाष्य दोष रहित नहीं हो सकते। इसमें जीवन की पवित्रता एवं योगज साक्षात्कार की भी परम आवश्यकता है। जिन विद्वानों ने केवल अक्षर ज्ञान के आधार पर वेदमन्त्रों के अर्थ किये हैं, और ऋषि दयानन्द के किये मन्त्रों के अर्थों को देखने का कष्ट नहीं किया है वह सभी आर्य विद्वान् भी भ्रान्ति में रहे। वेद का सत्यार्थ जनता के सामने प्रस्तुत न कर सके।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन आर्य विद्वानों का अभिप्राय, मन्त्रों के अशुद्ध अर्थ करने का था। उनके हृदय एवं आत्मा में तो यही पवित्र भावना थी कि हम ऋषि के आदेश अनुसार मन्त्रों का सत्यार्थ जनता के सामने प्रस्तुत कर किन्तु जिन मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द का भाष्य विद्यमान है उन वेदमन्त्रों का अपना अर्थ करने से पहले ऋषिभाष्य को देखने एवं मनन करने का कष्ट नहीं किया। यदि ऋषिभाष्य को देखकर एवं मनन करके मन्त्रों का व्याख्यान करते तो भ्रान्ति में न गिरते।

ऐसा न करने का यह फल हुआ कि आर्यसमाज के उच्च कोटि के विद्वानों ने भी ऋषि दयानन्द के विपरीत मन्त्रों का व्याख्यान किया। जिससे अज्ञानतावश ऋषि का खण्डन हो गया। उदाहरण के लिए यजुर्वेद के इस ४०वें अध्याय के विद्या अविद्या प्रकरण का मनन कीजिये। ऋषि ने विद्या और अविद्या की व्याख्या सत्यार्थ-प्रकाश के नवमसमुल्लास के प्रारम्भ में भी की है तथा वेदभाष्य में भी वेद प्रतिपादित विद्या और अविद्या क्या वस्तु है, इसे भलीभाँति समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया हैं तथा इस विषय को बड़े विस्तार के साथ लिखा है।

ईशोपनिषद् का भाष्य करते हुये आर्य विद्वानों ने ऋषि के किए वेद व्याख्यान को नहीं देखा और अपना मनचाहा अर्थ विद्या और अविद्या का कर डाला। आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध तार्किक विद्वान् स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती ने विद्या और अविद्या की व्याख्या इस प्रकार की है :—

अविद्या=अज्ञान। विद्या=ज्ञान। अविद्या के तीन भेद हैं-१-अविद्या, २-विद्या, ३-सत् विद्या। अविद्या का अर्थ मिथ्याज्ञान, विद्या का अर्थ व्यावहारिक ज्ञान तथा सत्

विद्या का अर्थ पारमार्थिक ज्ञान किया है। इसी प्रकार मनुष्यों के तीन भेद बतलाये हैं—

१--पामर, २--मनुष्य, ३--मुमुक्षु। अविद्या के उपासक पामर, विद्या के उपासक मनुष्य तथा सत् विद्या के उपासक मुमुक्षु कहलाते हैं। इस प्रकार विद्या और अविद्या की व्याख्या करके मन्त्र का भावार्थ निम्न प्रकार से लिखा है—

"परमात्मा ने इस मन्त्र द्वारा बतलाया है कि ऋषि लोग अपने आपको पामरों से अच्छा समझते हों तो यह उनकी भूल है। यदि वे विद्या से बढ़कर सत् विद्या को प्राप्त करेंगे तो उन्हें अविद्या के उपासकों से भी अधिक दुःख होगा ?" (मन्त्र ९)॥

इसी प्रकार वे ११वें मन्त्र के व्याख्यान में विद्या और अविद्या के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

"जिस प्रकार अविद्या दुःख का कारण है उसी प्रकार अनुभूत विद्या भी दुःख का ही कारण है, जो ऐसा जानते हैं वह अविद्या के परित्याग से मृत्यु अर्थात् अज्ञान से बच जाते हैं और अनुभूत विद्या के त्याग देने से इन्द्रियों के विकारों से बचकर समाधि या मुक्ति रूप अमृत का लाभ करते हैं।.........विद्या और अविद्या दोनों प्रकार के ज्ञान से पृथक् होने पर मुक्ति मिलती है................।" (मन्त्र ११)॥

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज के द्वारा किया विद्या और अविद्या सम्बन्धी सब व्याख्यान ऋषि दयानन्द के व्याख्यान से विरुद्ध है। यहां उन्होंने अविद्या का अर्थ अज्ञान और विद्या का अर्थ ज्ञान किया है। अब विचारना चाहिये कि अविद्या को मृत्यु दुःख से तरने का उपाय तथा विद्या को अमृत प्राप्ति का उपाय वेद द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है। अविद्या=अज्ञान मृत्यु दुःख से पार होने का उपाय कैसे हो सकता है ? अतः यहां प्रकरणानुसार महर्षि ने अविद्या का अर्थ जड़ पदार्थ तथा उसके नाना साधन एवं विद्या का अर्थ चेतन वस्तु तथा उसके साधन उपसाधन अर्थ किया है। इसे यथास्थान वेदभाष्य में खोलकर समझाया गया है पाठक विस्तार से वहाँ पढ़ें।

यदि स्वाध्यायशील पाठक महानुभाव महर्षि द्वारा किये वेदार्थ का अन्य विद्वानों के किये वेदार्थ से तुलना करके अध्ययन करेंगे तो वे ऋषि की गम्भीरता और समाधि द्वारा परमात्मा के स्वरूप में अवस्थित होकर किये वेद मन्त्रों के किये सच्चे अर्थों को जान सकेंगे और भ्रान्ति से सर्वदा दूर रहेंगे।

इसी प्रकार से अपने समय के शास्त्रार्थ महारथी, उच्चकोटि के प्रवक्ता, महामहोपाध्याय श्री पं० आर्यमुनि जी ने भी उपनिषद्भाष्य में जो विद्या और अविद्या की व्याख्या की है सो बड़ी ही रोचक है जो ऋषि की व्याख्या से सर्वथा विरुद्ध एवं अशुद्ध है। वे लिखते हैं—

"अविद्या=विपरीतज्ञान। विद्या=ज्ञान (मं० ९)। कई एक आधुनिक वैदिक जीवन अभिमानी यह अर्थ करते हैं कि विद्या=ज्ञान, अविद्या=ईश्वरोपासना का भिन्न २ फल है।

कोई कहता है कि **अविद्या के अर्थ कर्म के हैं** और कई एक टीकाकार अनेक प्रकार से भ्रान्त हैं जो वैदिक तत्त्व को न समझ कर नाना प्रकार की विमति उत्पन्न करते हैं। यदि अविद्या के अर्थ कर्म के होते तो इसी उपनिषद् के दूसरे मन्त्र में यावदायुष कर्मों का कर्त्तव्य कथन न किया जाता और विद्या=ज्ञान से भिन्न को अविद्या कहते हैं, इस भाव द्वारा अविद्या से कर्म लिये, जायें तो भी कर्मों का निषेध कैसे ? (मं० १०)

महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास में अविद्या का अर्थ कर्मोपासना किया है। जिसका अज्ञानता वश पं० आर्यमुनि जी जोरदार खण्डन कर रहे हैं।

११वें मन्त्र के व्याख्यान में पं० आर्यमुनि जी ने विद्या और अविद्या के सम्वन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"जो पुरुष विद्या=यथार्थज्ञान और अविद्या=विपरीत ज्ञान के द्वारा मृत्यु को तर कर अर्थात् निन्दित कर्मों को न करके विद्या=यथार्थज्ञान से मुक्ति को भोगता है"।

वेदमन्त्र में अविद्या को मृत्युतरण का उपाय वतलाया गया है। श्री पं० आर्य-मुनि जी ने अविद्या का अर्थ विपरीत ज्ञान किया है। विपरीत ज्ञान मृत्यु तरण का उपाय कैसे हो सकता है। अतः उन्हें अर्थात् लगाकर व्याख्या करनी पड़ी कि—'निन्दित कर्मों को न करके'। यह तात्पर्यार्थ मन्त्र के किसी भी पद से ध्वनित नहीं होता। अत : मन्त्रार्थ अशुद्ध है। पं० जी आगे लिखते हैं—

"अन्य कई एक आधुनिक यह भी अर्थ करते हैं कि अविद्याम्=कर्म काण्ड से मृत्यु को तर कर विद्याम्=ज्ञान से मुक्ति लाभ करता है।

स्वामी शंकराचार्य ने उक्त मन्त्रों में अविद्या के अर्थ कर्म के लिए हैं। उनको ऐसे अर्थ करना शोभा भी देता था। क्योंकि उनके मत में सम्पूर्ण संसार ही अविद्या में है वास्तव में कुछ नहीं। पर न जाने आजकल के वैदिकों ने शंकर के अर्थ में क्या तत्त्व समझा जो उक्त वेद विरुद्ध अर्थ का अनुसरण किया।

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" (यो० २। ५) नित्य में अनित्य, शुचि में अशुचि, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्म बुद्धि अविद्या है। जब योगशास्त्र में स्पष्टतया अविद्या का यह अर्थ है तो फिर शङ्कर मतानुसार अविद्या के अर्थ मानने का क्या कारण ?

यदि यह कहा जाये कि अविद्या के अर्थ कर्मकाण्ड के न किये जायें तो विद्ययाऽमृतमश्नुते, इस वाक्य की संगति नहीं हो सकती।

इसका उत्तर यह है कि मिथ्याज्ञान का कार्य होने से यहां जन्म को भी अविद्या कहा और अविद्या से मृत्यु को तरने के अर्थ यह है कि उस देहेन्द्रिय संघात द्वारा मृत्यु को तर कर अर्थात् मृत्युपर्यन्त प्रारब्ध कर्मों के फल का भोग कर फिर तत्त्वज्ञान से मुक्ति को पाता है।

और यदि यह कहा जाय कि अविद्या के परम्परा से चले आये हुये अर्थों को छोड़कर उक्त अर्थ कैसे ठीक नहीं ?

इसका उत्तर यह है कि—सम्भूति के अर्थ परमात्मा के किसने किये हैं और विनाश के अर्थ प्रकृति के किसने किये हैं ?

जब वादी ऐसे उच्छृङ्खल अर्थ करने में साहस करता है तो फिर अविद्या के यथार्थ अर्थ करने में क्यों भयभीत होता है ?"।

यहाँ श्री शंकराचार्य का खण्डन करते हुये कि अविद्या के अर्थ कर्म के नहीं श्री पं० आर्यमुनि जो ने तनिक भी विचार नहीं किया कि सत्यार्थप्रकाश में ऋषि दयानन्द ने भी अविद्या का अर्थ कर्मोपासना किया है।

श्री पं० आर्यमुनि जी प्रतिवादी की तरफ से उठाई गई शङ्का का समाधान करते हुये योगशास्त्र प्रतिपादित अविद्या के अर्थ का मण्डन न कर सके और अविद्या-जनित देहेन्द्रिय संघात अर्थ की कल्पना करनी पड़ी तथा अपना प्रथम किया अविद्या का अर्थ छोड़ना पड़ा।

पुन: स्वय प्रतिवादी की तरफ से शङ्का उठाकर परम्परित अर्थों के खण्डन में लिखते हुये अज्ञानवश ऋषि दयानन्द का खण्डन भी कर गये। और बड़े गर्व के साथ लिखा कि 'विनाश' के अर्थ प्रकृति के किसने किये हैं ? इसका उत्तर है कि ऋषि दयानन्द ने। ऋषि नें ४०।११ में विनाशपद का अर्थ प्रकृति किया है। प्रतिवादी का उत्तर देते हुए श्री प० आर्यमुनि जी नें अविद्या के अर्थ कर्म, और विनाश के अर्थ प्रकृति, इन ऋषि प्रतिपादित अर्थों को उच्छृङ्खल अर्थ बतलाया है।

जितने भी आर्य विद्वान् द्वारा किये ईशोपनिषद् के भाष्य हमें देखने का अवसर मिला है उसके आधार पर हम नि:संकोच कह सकते हैं कि आर्य विद्वानों ने ऋषि भाष्य को नहीं देखा और यदि देखा भी तो ऋषि के वेदार्थ का आदर नहीं किया। हां ! श्री पं० भीमसेन जी शर्मा द्वारा किया ईशोपनिषद् भाष्य ऋषि भाष्य के अधिक अनुकूल है और उसमें ऋषि के वेदार्थ का सत्कार किया गया है।

हम तुलनात्मक अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि आय विद्वानों द्वारा किये गये वेदभाष्य एवं मन्त्रार्थ ऋषि भाष्य से विरुद्ध अर्थों से भरपूर हैं। यह उल्लिखित विद्या और अविद्या का प्रकरण तो स्थालीपुलाक न्याय से आर्य जनता को सावधान करने के लिये उदाहरण मात्र प्रस्तुत किया है। स्वाध्यायशील आर्य महानुभाव तथा आर्य विद्वान् उक्त सत्य की स्वय परीक्षा कर सकते हैं।

तात्पय यह है कि इन भ्रान्तियों तथा इस प्रकार के अन्य भी अशुद्ध लेख का कारण महर्षि के वेदभाष्य को न देखना है। यदि आर्य विद्वान् ऋषि के वेदभाष्य का अनुशीलन कर के लिखते तो कदापि ऐसी पर्वत तुल्य त्रुटि न करते। इससे सभी आर्य विद्वानों का इस ओर ध्यान दिया जाता है कि प्रथम महर्षि को समझ कर फिर लेखनी उठाना लेखक और पाठक दोनों के लिये हितकर होगा।

—:o:—

प्रकाशकीय

महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के मुखपृष्ठ पर लिखा है "अथ सत्यार्थप्रकाशः, वेदादिविविध-सच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः"। सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में भी ऋषि लिखते हैं—"वेदादिसच्छास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ।...... मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है"।

इसी उपरिलिखित तथ्य के अनुसार ही महर्षि ने अपने ग्रन्थों की रचना की है। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में प्रकाशित सभी विचार वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से परिपुष्ट हैं। महर्षि अपने वेदभाष्य के विषय में भी स्वयं लिखते हैं—

(क) "मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता और उन्हीं पर मेरा विश्वास है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुल जायेगा" (भ्रान्ति निवारण पृ० ४)।

(ख) "मेरा वेदभाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाण युक्त बनता है" (भ्रान्ति निवारण पृष्ठ ५)।

इसी प्रकार के विचार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में महर्षि ने बहुत स्थानों पर प्रकट किये हैं।

महाभारत काल तक केवल वैदिक धर्म ही था। वेदार्थ के सम्बन्ध में भी कोई मतभेद नहीं था। एक ही शिक्षा थी। वेदादि सत्यशास्त्रों की अप्रवृत्ति होने के समय में वाममार्गी आदि मतमतान्तर वालों ने ऋषि मुनियों के ग्रन्थों में सहस्रों प्रक्षेप किये जैसे यज्ञों में हिंसा, व्यभिचार आदि का उल्लेख। बहुत से परस्पर विरोधी पुराण आदि ग्रन्थ ऋषि मुनियों के नाम पर निर्माण किये। प्रत्येक शास्त्र के स्थान पर बहुत से विरुद्ध ग्रन्थ निर्माण किये जैसे तर्क संग्रह आदि। शास्त्रों की अनेक अशुद्ध टीकायें की गईं जैसे साँख्यदर्शन के टीकाकारों ने परम आस्तिक महर्षि कपिल को नास्तिक सिद्ध किया। जैन, मुसलमान आदि मतवादी लोगों ने सहस्रों सत्यशास्त्रों को नष्ट कर डाला। सायण, महीधर आदि वेदभाष्यकारों ने वेदों के मिथ्या अर्थों के द्वारा वेदों का तिरस्कार किया।

प्राचीन पद्धति से वेदादिसच्छास्त्रों का पठन-पाठन समाप्त हुआ। वेदादि सत्यशास्त्रों का सत्य विज्ञान चारों ओर से अविद्या के अन्धकार से आच्छादित हो गया। जिस अन्धकार में सत्य विज्ञान का पता चलना असम्भव हो गया था। ऐसे भीषण काल में भी जिन महाशयों ने वेदादिसच्छास्त्रों की रक्षा की उनकी महर्षि दयानन्द ने प्रशंसा की है। इस युग में लुप्त हुये सत्यविज्ञान को महर्षि ने अपने अनुपम ब्रह्मचर्य के तप से तथा गुरुवर विरजानन्द जी महाराज की शिक्षा एवं परमेश्वर के अनुग्रह से स्वयं जानकर अन्यों को भी जनाया। महर्षि ने लुप्त हुये सत्य विज्ञान को पुनः प्रकाशित करने की कठिनाई को स्वयं अनुभव करते हुये सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"विज्ञान गुप्त हुए का पुनर्मिलन सहज नहीं है"।

दुर्भाग्य की बात है कि इस समय भी वेदादि-सच्छास्त्रों के विरोधी मिथ्याग्रन्थों का पठन-पाठन बहुत अधिक मात्रा में है। मिथ्या ग्रन्थों के संस्कार वेदादि सच्छास्त्रों के समझने में बाधक हैं। सत्य विज्ञान को आच्छादित करने वाले सहस्रों ग्रन्थों के प्रचार वाले इस युग में महर्षि के ग्रन्थों के द्वारा ही वेदादिशास्त्रों को समझा जा सकता है। अन्य कोई उपाय सम्भव नहीं।

महर्षि ने 'वेदविरुद्ध मत खण्डन' ग्रन्थ में मनु के 'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते' श्लोक का प्रमाण देते हुये लिखा है—"सत्योपदेष्टा गुरू तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं। यदि कहो हैं तो तुम्हारा कहना असङ्गत है क्योंकि तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है। धर्मशास्त्र में कहा है कि अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं उनके लिये ही धर्मज्ञान का विधान है"।

इस उल्लिखित ऋषियों के वचन से यह स्पष्ट है कि अर्थ और काम में न फंसा हुआ विद्वान् ही वेदवेत्ता हो सकता है। साक्षात्कृतधर्मा विद्वान् ही वेदार्थ को यथार्थ समझकर अन्यों को समझा सकते हैं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पठन-पाठन विषय में ऋषि ने लिखा है—"मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये व्याकरण-अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिकोष, गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टु-निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग; मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, साँख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के अथवा जिन्होंने इन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य-सत्य वेदव्याख्यान किये हों उनको देखके वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें"।

महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र भाग २ पृष्ठ १८६ देवेन्द्रनाथकृत में लिखा है—"वेदों में पाप का क्षमा होना कहीं भी नहीं लिखा। आश्चर्य यह है कि अंग्रेजी जानने वाले भी वेदार्थ का निर्णय करेंगे"। लिखित शास्त्रार्थ बरेली में यह वाक्य महर्षि ने कहे।

महर्षि दयानन्द के इस लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अल्पज्ञानी, अर्थ-कामों में आसक्त एवं अतपस्वी लोगों का वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से रहित, अपनी कल्पना से किये वेदों के सब अर्थ साध्य कोटि में ही समझने चाहियें। अर्थात् उन्हें सन्देह-रहित नहीं कहा जा सकता। इसलिये ईश्वरीय ज्ञान वेदों के सच्चे अर्थों को साक्षात्कृतधर्मा महर्षि लोगों द्वारा किये गये वेद-व्याख्यानों से समझें और मनुष्य जन्म को सफल बनावें। मनुष्यकृत वेदभाष्यों के अध्ययन में वृथा समय न गंवावें।

अपने वेदभाष्य के विषय में महर्षि ने स्वयं इस प्रकार लिखा है—

(क) "जब मेरा वेदभाष्य पूर्ण हो जायेगा तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जायगा कि मेरे सब सिद्धान्त वेदानुकूल हैं" (भ्रान्तिनिवारण पृष्ठ ३)।

(ख) "परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देखने को मिला कि वेदभाष्य पूर्ण हो जाये तो निस्सन्देह आर्यावर्त देश में सूर्य का सा प्रकाश हो जायेगा कि जिसके मेटने और झापने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आ जावे तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जायेगा। (भ्रान्ति निवारण पृष्ठ ३)।

थियोसोफीकल सोसाइटी सभा के सदस्यों के पत्र के उत्तर में महर्षि ने लिखा था — "आप जिस शिक्षा को मुझ से ग्रहण करना चाहते हैं वह परमार्थ और व्यवहार विषय के भेदों से बहुत बड़ी है; पत्र द्वारा लिखी नहीं जा सकी। संक्षेप से मेरे रचे ग्रन्थों में लिखी है। विस्तार से तो वेदादि शास्त्रों में है"। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है — "क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है जैसे पहाड़ का खोदना और कौड़ी का लाभ होना और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है जैसे एक गोता लगाना और बहुमूल्य मोतियों का पाना"। चाणक्य राजसूत्र में कहा है — "कार्यबहुत्वे बहुफलमायतिकं कुर्यात्" अर्थात् अनेक कार्य सामने होने पर अधिक फल देने वाले कार्य को करे। श्री भर्तृहरिजी ने व्याख्यापूर्वक कहा है "कार्य करने के लिये जीवनकाल बहुत कम है" अतः उपरोक्त वचनों द्वारा दर्शाये तथ्य को दृष्टि में रखते हुए अपने जीवन के बहुमूल्य समय को ऋषि का भाष्य जो अन्य ऋषियों के भाष्यों के प्रमाणों से युक्त है उसके अध्ययन में लगाकर वेद के सत्यार्थ को जानने योग्य है।

कल्पितार्थ अनार्ष भाष्यों से तो मिथ्यार्थ के संस्कार भी अवश्य पड़ेंगे अतः उनका अध्ययन तो महर्षि की सम्मति अनुसार विषसम्पृक्त अन्नवत् अन्य अनार्ष ग्रन्थों की भांति ही त्यागना उचित हैं।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की महत्ता का कथन करते हुए भी प्रायः आर्य सभासद् एवं आर्य विद्वान् भी इस वास्तविकता को 'लेकिन' शब्द लगाकर ढक देते हैं और आचरण में नहीं लाते। मिश्री, मिश्री कहने से मुँह मीठा कदापि नहीं होता।' महर्षि के वेदभाष्य की महत्ता को स्वीकार कर उसके रस का आस्वादन भी करना परम आवश्यक है।

महर्षि का ऋग्वेद और यजुर्वेद का भाष्य $\frac{२०'' \times २६''}{८}$ के साइज में ११९७३ (ग्यारह सहस्र एक सौ तिहत्तर) पृष्ठों में है। महर्षि ने सत्य वेदभाष्य करके मानव जाति पर महान् उपकार किया है। अतः आर्य जनों का कर्तव्य है कि ऋषि के वेदभाष्य का अध्ययन करें तथा सत्य विद्याओं का प्रकाश प्राप्त करके अपने परम धर्म का पालन करें और अपने इहलोक और परलोक का निर्माण करें।

सभी स्वाध्यायशील आर्यजनों को निश्चय करना चाहिये कि पहले ऋषि का सम्पूर्ण वेदभाष्य पढ़कर ही अन्यों के वेदभाष्य पढ़ने का विचार करें। श्री पं० गुरुदत्त जी 'विद्यार्थी' ने जो अत्यन्त मेधावी थे, महर्षि के सत्यार्थप्रकाश को चौदह बार पढ़कर यह लिखा था कि जब-जब मैं इस ग्रन्थ को पढ़ता हूँ तब-तब नई-नई बातें ही मुझको मिलती हैं। इसमें कुछ भी सन्देह

नहीं कि ऋषि के वेदभाष्य को भी अनेक बार पढ़ने से पाठकों को अवश्य अमूल्य रत्न मिलते रहेंगे।

'वेदभाष्य विबोध' के लेखक श्री पं० सुदर्शनदेव जी आचार्य एम०ए० ने ऋषि के वेदभाष्य को समझाने में जो बड़े पुरुषार्थ से विद्वत्तापूर्ण प्रशंसनीय कार्य किया है उसके लिये मैं उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ। इस ग्रन्थ की प्रेस कापी को श्री पं० जगदेवसिंह जी शास्त्री 'सिद्धान्ती' ने देखा एवं हमें उत्साहित करते हुये यथास्थान टिप्पणियाँ भी दीं। इसके लिये मैं श्री श्रद्धेय सिद्धान्ती जी का भी धन्यवाद करता हूँ।

यह वेद के एक अध्याय का 'महर्षि वेदभाष्य विबोध' पाठकों की सेवा में नमूने के रूप में प्रस्तुत किया है। पाठकों से निवेदन है कि इस पर अपनी सम्मति एवं सुझाव भेजने की कृपा करें। जो स्वाध्यायशील आर्य महाशय इस प्रकार के महर्षि के सम्पूर्ण वेदभाष्य का विबोध खरीदने के इच्छुक हों वे भी कृपया सूचित कर अनुगृहीत करें। जिससे महर्षि के सम्पूर्ण वेदभाष्य के विबोध—लेखन का कार्य सुचारु रूप से प्रारम्भ किया जा सके।

दीपचन्द आर्य
प्रधान आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२-एफ कमलानगर, दिल्ली-७।

शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

सत्यार्थप्रकाश (स्थूलाक्षर)

कागज सफेद ३१ पौंड, $\frac{२२'' \times ३०''}{८}$ साइज, टाइप नया २० प्वाइंट एवं प्रमाण भाग २४ प्वाइंट, सुन्दर छपाई। द्वितीय संस्करण के अनुसार।छप रहा है लगभग २ मास तक मिल जायेगा।

महर्षिलघुग्रन्थसंग्रह

इसमें महर्षि रचित, १—वेद विरुद्ध मतखण्डन, २—वेदान्तिध्वान्तिनिवारण, ३—शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण, ४—वेदभाष्य के नमूने का अङ्क, ५—भ्रान्ति निवारण, ६—पञ्चमहायज्ञविधि, ७—आर्योद्देश्यरत्नमाला, ८—व्यवहारभानु, ९—भ्रमोच्छेदन, १०—अनुभ्रमोच्छेदन, ११—गोकरुणानिधि इन ग्यारह ग्रन्थों का संग्रह है। ये सब ग्रन्थ ऋषि के जीवनकाल में छपे ग्रन्थों से मिलान कराये गये हैं एवं ये सुयोग्य विद्वान् से सम्पादित हैं।

प्रमाणसूची ले० सुदर्शनदेव आचार्य)

ऋषि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश से लेकर वेदभाष्य पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रन्थों तथा समस्त जीवन चरितों, पत्र व्यवहार, उपदेश और शास्त्रार्थों में उद्धृत वेदादि ग्रन्थों के क्रम से तथा मतवादियों के ग्रन्थों के अप्रमाण वचनों की पृथक्-पृथक् ग्रन्थ के नाम उल्लेख पूर्वक बड़े पुरुषार्थ से यह सूची तैयार की गई है। इसकी सहायता से स्वाध्याय शील आर्य विद्वान् किसी भी प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक वचन का ऋषिकृत व्याख्यान बड़ा सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।

आर्ष सन्ध्या हवन पद्धति (ले० सुदर्शनदेव आचार्य)

इसमें ऋषि ग्रन्थों में विद्यमान सन्ध्या तथा हवन की विधि तथा मन्त्रार्थों के ऋषि वचनों का बड़ी योग्यता पूर्वक विबोध करवाया गया है। विशेष वक्तव्यों द्वारा विषय को खोला गया है। प्रत्येक मन्त्र के साथ आर्यभाषा में कविता देकर ऋषि के मन्त्रार्थ का रसास्वादन करवाया गया है।

सम्मति

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित यजुर्वेद भाष्य के २० वें अध्याय पर गुरुकुल झज्जर के सुयोग्य स्नातक श्री पं० सुदर्शनदेव जी द्वारा लिखी "विबोध" नामक व्याख्या देखी। लेखक ने पुस्तक की भूमिका में वेदभाष्य करने का अधिकार तथा मन्त्र के ऋषि का मन्त्रार्थ पर प्रभाव आदि विषयों पर विद्वानों के लिये बड़ी ही महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त "विबोध" नामक व्याख्या में किया सभी कार्य अवश्य प्रशंसा के योग्य है। यह पुस्तक सभी आर्य विद्वानों तथा स्वाध्यायशील सज्जनों के लिये बड़ा ही उपयोगी है।

आचार्य भगवान देव गुरुकुल झज्जर रोहतक

सम्मति

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय पर "भाष्य विबोध" नामक पुस्तक देखने को मिला। "भा विबोध" यह एक समस्त पद है, जो भाष्य और विबोध इन दो शब्दों से मिल कर बना है। 'भा शब्द से यहाँ महर्षि दयानन्द का भाष्य ग्रहण किया है और 'विबोध' से श्री पण्डित सुदर्शन आचार्य सम्बन्ध रखते हैं। तब अब 'भाष्य विबोध' से तात्पर्य हुआ– महर्षि दयानन्द सरस्व द्वारा किये गये यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का ऐसा बोध, जिसमें वैविध्य एवं वैशिष्ट्य लिये हु विशुद्ध ज्ञान समाया हुआ हो।

सचमुच विद्वद्वरेण्य ने इसे ऐसा ही बनाने का प्रयास किया है, जो स्तुत्य है। वे इस बहुत सफल हुये हैं।

महर्षि दयानन्द का भाष्य साधारण नहीं है। यह अनुक्रमिक पठन–पाठन से समझ आता है अथवा वे महानुभाव इसे हृदयङ्गम कर सकते हैं, जिन्होंने अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करते हुवे वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन किया हो।

जो गम्भीर विद्वान हैं, वे देव दयानन्द के भाष्य की प्रशंसा करते हैं, जो अधकचरे हैं, इसे ऊल जलूल समझते हैं। अतः आवश्यक्ता थी–इन अपरिपक्व पण्डितों के अन्धकार को दू करने की तथा उनका भी संशय मिटाने की, जो श्रद्धाभरित अन्तःकरण से ऋषि दयानन्द के भाष्य को पढ़कर अपने ज्ञान–कोष को भर रहें हैं

मेरी सम्मति में विद्वद्वर्य श्री सुदर्शन देव आचार्य ने यही कार्य किया है, जो मुझे भात है। ऋषियों में गहन निष्ठा रखने वाले एक व्यक्ति से यही आशा की जा सकती है, कि वह उनकी विशुद्ध सरणि को अक्षुण्ण बनाए रक्खे। पण्डित शिरोमणि ने भाष्य का एक–एक शब्द ऐसा स्पष्ट कर दिया है कि कहीं भी किसी को भ्रान्ति रहने न पावे। अद्वैतवाद के पोषक श्री शङ्कराचार्य जी के सिद्धान्तों की अवास्तविकता का भी इस भाष्य विबोध में परिचय कराया है।

इस भाष्य विबोध के प्रकाशक श्री लाला दीपचन्द जी आर्य हैं, वे अन्तरात्मना महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों का ही प्रचार चाहते हैं और उनके ही ग्रन्थों का स्वयं स्वाध्याय भी करते हैं। उनके ऐसा करने का कारण यह है कि उनकी सम्पूर्ण समस्याएं ऋषि ग्रन्थों से ही समाधान पाती रहती हैं, फिर वे अन्य अनार्ष ग्रन्थ पढ़कर विपरीत ज्ञान लपेटना और जीवन के अमूल्य क्षणों को क्षीण करना नहीं चाहते। इसलिये उनकी योजना है कि ऋषि दयानन्द के भाष्य को सुगम किया जावे, जिससे सर्व साधारण लोग भी उनके प्रमाणिक अर्थों की सत्यता को जाने और अनार्ष टीकाओं से उत्पन्न भ्रान्तियों से बचें एवं वेद के पठन–पाठन रूप परम धर्म का पालन करें।

वेदानन्द वेद वागीश
प्रस्तोता
श्रीमद् दयानन्द आर्ष विद्या पीठ
कार्यालय—गुरुकुल झज्जर (रोहतक)